राजस्थानी

भाषा-साहित्य-संस्कृति

डॉ. रामप्रसाद दाधीच
रीडर
हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय

राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर

प्रकाशक :
राजस्थानी ग्रंथागार
सोजती गेट, जोधपुर

प्रथम संस्करण—मई १९८६

मूल्य—पैंतीस रुपये मात्र

मुद्रक :
प्रिंटिंग हाउस
मेड़ती गेट के बाहर
जोधपुर

RAJASTHANI : BHASHA—SAHITYA—SANSKRITI

भूमिका

डा. रामप्रसाद दाधीच की साहित्यिक-समीक्षा-कृति 'राजस्थानी—भाषा, साहित्य, संस्कृति' का अभिनंदन करते हुए प्रसन्नता, गर्व और संतोष का अनुभव होता है। हमारी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के इस प्रकार के विश्लेषण-विवेचन इस विषय के अभाव को कम करने के सराहनीय प्रयास है। सर्वमान्य है कि राजस्थानी भाषा, साहित्य और संस्कृति ने राष्ट्रीय चेतना को बनाने में विशिष्ट भूमिका निभाई है। राष्ट्रीय चेतना की जागृति एवं अभिव्यक्ति में सांस्कृतिक चेतना का विशिष्ट स्थान है। जिस गौरवपूर्ण अपनत्व की परिणति राष्ट्रीय भावना है, उसका पोषण सांस्कृतिक उत्थान से जुड़ा हुआ है। संस्कृति पर अभिमान राष्ट्रीय भावना को बलवान बनाता है। सांस्कृतिक उपलब्धियों पर गर्व के अभाव में राष्ट्रीयता की भावना संभवतः, पनप नहीं सकती। जब नवनिर्मित राष्ट्र भी अपनी सांस्कृतिक सम्पन्नता की दुहाई देते हुए गर्व का अनुभव करते हैं, तो सनातन सुसंस्कृत धरोहर के धनी, भारतवासी क्यों न अपनी उन उपलब्धियों पर नाज करें जो जीवन के 'नितान्त स्थूल जीवन प्रयोजनों से प्रारम्भ होकर निस्वार्थ भाव से सौन्दर्य एवं, नाम रूप से परे, अभिज्ञता अथवा अध्यात्म-बोध तक निर्द्वन्द भाव से' हमारी संस्कृति को आगे ले जा रही हैं।

आक्रांता संस्कृतियों के घात-प्रतिघात को सहन करने की क्षमता रखते हुए, सहिष्णुता और शाश्वतता का उद्घोष करने वाली भारतीय संस्कृति की दीर्घ प्रभावी सनातनता, एक गूढ़ रहस्य है। उसकी सांस्कृतिक मान्यताओं की विशिष्टता हमें स्पर्श कराती है 'असीम का, और ले जाती है हमें ज्ञात से अज्ञात, देह से आत्मा, अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरता, भेद से अभेद की ओर।'

आक्रमण के भूकम्प और नाश के अग्निकाड से, अक्षय वट की भांति, हर प्रलय के बाद पुनः लहलहाने वाली हमारी संस्कृति के प्रवहमान निर्झर—साहित्य एवं शिल्प, कला एवं संगीत को जहां मनीषियों, चिन्तकों, गायकों एवं कला के लिए समर्पित प्रतिभा-पुत्रों ने अपने सुचिन्तित विचारों और रसमयी सरजना से, प्रफुल्लित और आलोकित किया, वहीं अपने विकास के प्रत्येक स्तर पर, इस गौरवमय परंपरा ने, कोटि-कोटि लोक के हृदय आप्लावित कर उन्हें उसके संरक्षण एवं संवर्धन के लिए दृढ़संकल्प किया।

हमारे सतत् प्रवाही जीवन संस्कारों का सौंदर्य भारतीय संस्कृति, जीवन-दीप का प्रकाश और जीवन-पुष्प की सौरभ है।

आक्रामक प्रहारों को झेलते हुए, विरोध का निरंतर सामना कर अपना स्थान बनाए रखने वाली भारतीय संस्कृति के निर्माण में राजस्थान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राष्ट्र की प्रत्येक सामाजिक और भौगोलिक इकाई की भांति राजस्थान ने भारतीय हिन्दू संस्कृति को अपने ढंग से प्रभावित कर समृद्ध किया। भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व, धार्मिक परंपरा और मातृभूमि प्रेम को, राजस्थान के साहित्यकारों, शूरवीरों, कवियों, लेखकों, सतियों और सामान्य लोगों ने एक विशिष्ट आभा प्रदान करते हुए हमारी सांस्कृतिक मान्यता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> धर जातां ध्रम पलटतां, तिया पड़ंतां ताव।
> ऐ तीनों दिन मरण रा, कहा रंक कहा राव॥
> धरती म्हारी म्हे धणी, ढावौ नेजा ढल्ल।
> कीकर पड़सी ठाकरां, ऊभां सीहो खल्ल॥

हमारे तत्कालीन साहित्य का प्रयोजन था लोक को अपने धर्म, धरा व मूल्यों की सुरक्षा के लिए प्रेरित करना, कटिबद्ध करना। सपूतों को जहां याद नहीं किया जाता, वहां सपूत जन्म लेना बन्द कर देते है। राजस्थान ने सपूतों को अपने काव्य द्वारा अमर कर लोक को सपूताई के लिए प्रेरित किया। धर्म एवं देश के प्रति अपने कर्तव्य को निभाने के लिए अपनी प्रखर प्रतिभा के उपयोग में लगे इन सरजनकारों को अपने नाम का भला क्या भान रहता? यही कारण है कि हमारे साहित्य एवं संस्कृति के इन सहस्रों सेवकों में से अधिकांश के बारे मे साहित्य-इतिहासविज्ञ चेष्टा करने पर भी अधिक कुछ ज्ञात नहीं कर पाते।

संस्कृति, प्रदेश के जनसमूह का सामाजिक और कलात्मक विकास है। जहां सांस्कृतिक विकास का स्तर स्वाभिमान योग्य है, वहां रणक्षेत्र की पराजय, समाज और राष्ट्र को समाप्त नहीं कर सकती। सांस्कृतिक और राष्ट्रीय-गौरव राष्ट्र को पुनः, विजय और उत्थान के प्रशस्त मार्ग पर ले जाने का साहस प्रदान करता है। राजस्थान में कहावत है—"राज जावो पण रीत मत जाया।" रीति, जिसका आधार मान्य-सांस्कृतिक-उपलब्धियां है, बची रहने तक सांस्कृतिक चेतना बनी रहती है और वही स्वतंत्रता-प्राप्ति की प्रेरक-शक्ति बनती है।

सफल विदेशी यौद्धिक एवं सांस्कृतिक अभियानों के सामने मिश्र मैसोपोटामिया, फारस, कारथेजियन और आरमीनियन संस्कृतियों का घुटने टेक पराभव की विस्मृति की शरण लेने में संतोष अनुभव करना उनकी

धार्मिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की निर्बलता का द्योतक है। उन्ही आक्रांताओं को लगभग एक हजार वर्ष तक, बारंबार की गई कुटिल चेष्टाओं का, हमारी संस्कृति अपनी आंतरिक शक्ति के कारण सफलतापूर्वक सामना करती रही। रणखेत मे "जोम" से सफलता पाने वालों ने कालांतर मे भारत की संस्कृति का लोहा मान लिया। इतिहास के उतार-चढाव से प्रभावित निरंतर विकासशील भारतीय संस्कृति की शक्ति, सामर्थ्य और समृद्धि का इससे अधिक सबल प्रमाण क्या हो सकता है कि हूण, सीदियन, जित्त, गुर्जर, मंगोल विजेताओं ने इसे सादर अपनाया।

हमारे राष्ट्र की इस विशाल पवित्र सांस्कृतिक सुरसरी की सहायक सरिताओं में राजस्थानी संस्कृति का वैसा ही महत्व है जैसा गंगाजी के लिए जमुनाजी का।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अंकुर असल्ह वर्तमान मे है। राजनैतिक विफलता से उत्पन्न स्थिति का सामना करने के संक्रामक काल में संवेदनशील हृदय में एक वेदना पैदा होती है। कवि अपनी अभिव्यक्ति को प्रेरणादायक स्वर प्रदान कर स्वतंत्रता के प्रशस्त पुण्य पथ पर संकल्पबद्ध जनमानस को अग्रसर करते हुए सांस्कृतिक चेतना को नई बुलंदी पर पहुंचाते हैं।

राजस्थान के इतिहास में ऐसे दो संक्रामक काल उल्लेखनीय है। पहले की शुरुआत पानीपत की दूसरी लड़ाई से हुई और दूसरे की वैलेजली की सबसीडरी एलायन्स (सहायक संधि—उन्नीसवी सदी का प्रारम्भ) की नीति से। दोनों ऐतिहासिक परिवर्तनों के विरुद्ध राजस्थान में जोशीली सांस्कृतिक प्रतिक्रिया हुई। उसकी जानकारी प्रस्तुत ग्रन्थ मे उपलब्ध करा लेखक ने सिद्ध कर दिया है कि देश के अन्य प्रान्तो द्वारा राजस्थान के शूरवीरो, कवियों, साहित्यकारो एवं लोगो को दिया जाने वाला आदर-सम्मान पूर्णतया उचित है।

उपरोक्त दोनों अवसरों पर जब विदेशी सत्ता हमारे सांस्कृतिक व्योम में छाजाने की चेष्टा में थी, हमे जीतने के षडयंत्र रच रही थी, राजस्थान ने विरोध का नेतृत्व किया। राजस्थानी भाषा वह भाषा है जिसमे विदेशियो के विरुद्ध हर बार पहला शंखनाद हुआ। राष्ट्रीय गौरव को जागृत करने में राजस्थान के ईसरदास, पृथ्वीराज, दुरसा आढा, जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह जी, बांकीदास, सूरजमल सामौर, जयनारायण व्यास, उस्ताद इत्यादि के अनुपम एवं अनुकरणीय योगदान पर प्रकाश डाल कर लेखक ने इतिहास एवं साहित्य दोनों की सेवा की है।

अपनी सांस्कृतिक धरोहर की गौरवपूर्ण परंपरा मे अडिग आस्था उत्पन्न करने और उसे सुरक्षित रखने के हमारे सामर्थ्य को अभिवृद्धि में राजस्थान को

विशिष्ट सास्कृतिक परंपरा का योगदान सदैव उल्लेखनीय रहा है। राजस्थान की इस विशिष्ट संस्कृति के बारे में उपलब्ध, राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं लोकजीवन की जानकारी को विद्वजनो के सामने लाने की आवश्यकता लम्बे समय से अनुभव की जा रही थी। यहां की वीर परंपरा और सपूती से प्रभावित लोगो ने, कर्नल टाड इत्यादि की परंपरा को निभाते हुए, इस सांस्कृतिक योगदान को लोगो के सामने लाने के जो प्रयास किए, उनसे शिक्षित वर्ग में अधिक जानने की उत्कंठा उत्पन्न हुई। ज्ञान-पिपासा पूरी करने के लिए राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए अधिक जानकारी देने वाले, अधिक ग्रन्थों की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। भाई श्री दाधीच की यह कृति इस अभाव को कम करने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम है।

नव चेतना की मान्यता, मूल्य, धारणा, अवमानना को रूप देने वाली राजस्थानी भाषा की साहित्यिक अभिव्यक्ति में जो निखार आया उसके इतिहास का वैज्ञानिक विवेचन इस ग्रन्थ की अपनी एक और विशेषता है।

संस्कृति के ऐतिहासिक क्रम के विवेचन हेतु इतिहास में जिस दखल एवं भाषा पर जिस अधिकार की आवश्यकता होती है, वह प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक मे विद्यमान होना सुस्पष्ट है। आशा है, यह ग्रन्थ अन्य विद्वानो को राजस्थान की समृद्ध सांस्कृतिक परपरा के विभिन्न पहलुओ पर, उसके सभी अंगों पर अन्य शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा देगा। राजस्थानी भाषा, साहित्य, सगीत, लोक संस्कृति, नृत्य कला, चित्रकला, स्थापत्य कला, इत्यादि की पुख्ता जानकारी मिलने पर स्वतः देश का युवा महात्मा ईसरदास के साथ कहेगा–

मरदा मरणा हक्क है, उबरसी गल्लांह।
सापुरसा रा जीवणा, थोड़ा ही भल्लाह ॥ 3 ॥
मतवाला झूमें नही, ना घायल घरणाय।
बाळ सखी उदूंगडो, (जठै) भड़ बापडा कहाय ॥ 4 ॥

कैलाश दान उज्ज्वल
अध्यक्ष
राजस्थानी भाषा, साहित्य, सस्कृति
अकादमी, बीकानेर

ब्रह्मलीन
नानाजी की
पावन स्मृति में
जिन्होंने मुझे
अथाह स्नेह
और संरक्षण दिया—

रा. प्र. दा.

अनुक्रम

राजस्थानी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ : प्रामाणिकता का प्रश्न

इतिहास का भले ही कभी यह अर्थ रहा हो कि 'ऐसा ही था' या ऐसा ही हुआ या जो कुछ घटित हो गया उसका तिथिक्रम में कुछ विस्तार के साथ, कुछ आख्यानात्मक विवरण प्रस्तुत कर देना इतिहास है। किसी देश अथवा जाति की सामाजिक अथवा राजनैतिक इतिहास के लेखन की प्रक्रिया आज भी कुछ इस प्रकार की हो सकती है किन्तु साहित्य और भाषा के इतिहास-लेखन की प्रक्रिया यह नहीं हो सकती। इतिहास की आज सकल्पना ही बदल चुकी है, उसका अपना एक दर्शन और प्रक्रिया है। साहित्य के इतिहास-दर्शन और उसकी लेखन-प्रक्रिया को समझने के पूर्व यह समझ लेना उचित होगा कि 'साहित्य का इतिहास क्या है ?' साहित्य की अन्य विधाओं की भांति आज यह भी एक स्वतःपूर्ण विधा है। इसमें केवल तथ्य-संग्रह और उन्हें तिथिक्रम में प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य के इतिहासकार के पास कल्पना की सर्जनात्मक शक्ति भी होनी चाहिये। तथ्यों के आख्यान की तार्किकता और उनके अन्तराल में झांकने की सर्जनात्मक कल्पना-सामर्थ्य यदि उसमें नहीं होगी तो साहित्य के इतिहास का प्रामाणिक लेखन नहीं हो सकता।

साहित्य के इतिहासकार की कुछ और भी अनिवार्य अर्हतायें हैं। उसे सम्पूर्ण मानव संस्कृति की जानकारी होनी चाहिये। इतिहास, समाजशास्त्र, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक परिस्थितियां, विज्ञान आदि का ज्ञान भी साहित्य के इतिहास लेखक के लिये आवश्यक है। तभी उसकी दृष्टियाँ साफ होंगी। कार्य-कारण का सम्बन्ध जब तक इतिहासकार को स्पष्ट नहीं होता तब तक उसमें प्रामाणिकता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। साहित्य के इतिहास लेखन की यह वैज्ञानिक दृष्टि है। आज साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यह धारणा बन रही है कि यह मानवात्मा का इतिहास है। वह मात्र किसी भाषा अथवा साहित्य का ही इतिहास नहीं होता। साहित्य के इतिहास में साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से होता है। ये साहित्यिक रचनायें साहित्यकारों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं। अतः उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे सम्बन्धित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्पराओं को समझना

भी आवश्यक है। अत आवश्यक हो जाता है कि साहित्य के इतिहासकार की दृष्टि समग्र हो।

भारतवर्ष मे साहित्यिक इतिहास के दर्शन का सर्वथा अभाव रहा हो, ऐसी बात तो नही है पर यह भी सर्वविदित है कि इस विषय की वैज्ञानिक दृष्टि का जितना विकसित रूप हमे पाश्चात्य इतिहासज्ञो मे मिलता है, उतना अभी यहाँ विकसित नही हुआ। फ्रेंच विद्वान् तेन, ए. एच. कॉफे, रूसी विद्वान् मैस्यूलिन, आर्द ए. निकईम, विलियम एम्पसन प्रभृति ऐसे पाश्चात्य विद्वान् हो गये है जिन्होंने साहित्येतिहास को एक सुचिन्तित और वैज्ञानिक दृष्टि हमे दी है। मनोविज्ञान, अर्थविज्ञान और द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद ने इस दृष्टि के निर्माण मे आधारभूत सिद्धान्तों का कार्य किया है। साहित्य-इतिहास के कुछ और भी सिद्धान्त हैं जो साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्त्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन मे सहायता प्रदान करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्येतिहास का एक विकसित दर्शन आज हमे प्राप्त है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या राजस्थानी भाषा और साहित्य का कोई भी इतिहासग्रन्थ इस प्रकार की विकसित अद्युनातन दृष्टि से लिखा गया है? राजस्थानी भाषा और साहित्य का उद्भव तो एक सहस्र वर्ष से भी पूर्व हो गया था। इस लम्बी कालावधि मे भाषा के जो विभिन्न रूप रहे और साहित्य-रचना की जो विभिन्न स्थितियाँ रही उनका प्राधा-अधूरा अप्रामाणिक उल्लेख, अद्यावधि जो इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें मिलता है। पर क्या उनमे किसी प्रकार के वैज्ञानिक इतिहास दर्शन का अनुसरण हुआ है? हमे इसकी तलाश करनी है। और फिर यह भी कि क्या इन इतिहास ग्रन्थो के लेखक केवल सर्वेक्षक अथवा इतिहासकार ही रहे है अथवा वे साहित्य के आलोचक भी रहे है? अच्छे इतिहासकार के लिये एक अच्छा आलोचक होना भी वाछित है। क्या राजस्थानी साहित्य के इतिहासकारो ने यह भूमिका भी निभाई है?

राजस्थानी साहित्येतिहास की परम्परा

राजस्थानी प्राचीन ख्यातो, वचनिकाओं और स्वय कवियों और लेखकों की कृतियो मे लेखको के जीवनवृत्त एव कृतित्व का सक्षिप्त परिचय कहीं-कहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्त-माळ आदि ग्रन्थो मे भी राजस्थानी भाषा के कुछ लेखको का उल्लेख भी मिलता है किन्तु इनमे कालक्रम, सन्-सवत आदि का उल्लेख नही

मिलता। अतः ये ग्रन्थ इतिहास की संज्ञा में नहीं आते। अंग्रेज विद्वान् जार्ज ग्रियर्सन, टॉड और इटेलियन विद्वान् टैमटरी इस दिशा में पहल करने वाले कतिपय विद्वान् है जिन्होंने राजस्थानी भाषा और साहित्य का न केवल सर्वेक्षण ही किया किन्तु इतिहासज्ञ और आलोचक की दृष्टि से उन्होंने इस निधि का कुछ मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया। पं हरिप्रसाद शास्त्री ने चारण साहित्यकारों की कृतियों पर अपनी एक खोज रिपोर्ट तैयार की। पं. रामकर्ण आसोपा ने भी इस दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया। अतः राजस्थानी साहित्येतिहास की परम्परा के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यों तो यह परम्परा कुछ प्राचीन है किन्तु सुचिन्तित इतिहास दृष्टि का विकास इस काल तक हमे नही मिलता।

राजस्थानी भाषा और साहित्य का इतिहास-लेखन डा मोतीलाल मेनारिया के ग्रन्थ 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' से माना जा सकता है। यह प्रथम इतिहास-ग्रन्थ है जिसमें राजस्थानी भाषा और साहित्य का काल व तिथिक्रम मे विकास प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि डा. मेनारिया ने भूमिका में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट नहीं किया कि उनकी दृष्टि इस ग्रन्थ मे क्या रही है। उन्होने इतना भर लिखा है कि साढ़े तीन हजार राजस्थानी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सामग्री को इस ग्रन्थ का आधार बनाया गया है। इससे पूर्व वे तीन अन्य पुस्तकें इस विषय से सम्बद्ध प्रकाशित करा चुके थे। 'राजस्थान मे हिन्दी ग्रन्थों की खोज' इनमे प्रमुख है और संभवतः यही खोज रिपोर्ट उनकी मुख्य प्रेरणा रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जैसे अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया था—"प्रत्येक देश का साहित्य वहा की जनता की चित्त-वृत्ति का सचित प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्ही चित्तवृत्तियो की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुसार होती है।" इस प्रकार की दृष्टि डा. मेनारिया के इतिहास ग्रन्थ में कही भी नहीं मिलती, यद्यपि उनके समय में हिन्दी भाषा और साहित्य के कुछ बहुत ही अच्छे इतिहास प्रकाशित हो चुके थे। मोटे तौर पर मेनारियाजी ने काल व तिथिक्रम मे प्राप्त ग्रन्थों के आधार पर साहित्य व भाषा का काल विभाजन किया है और कवियों व लेखकों के सक्षिप्त (जो भी उन्हें उपलब्ध हो सके) जीवनवृत्त दिये

है लेखकों की प्रमुख कृतियों का परिचय दिया है और अधिकांशतः कृतियों के केवल नाम गिनाए हैं।

श्री मोतीलालजी मेनारिया के पश्चात् राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास-लेखन के स्फुट प्रयत्न और भी हुए हैं पर वे छात्रोपयोगी अथवा परिचयात्मक ही अधिक हैं। राजस्थानी शब्दकोश के रचनाकार श्री सीतारामजी लालस और डा हीरालाल माहेश्वरी—दो ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने अपेक्षाकृत गम्भीरता तथा स्पष्ट दृष्टि और ईमानदारी के साथ इस दिशा में काम किया है। श्री लालसजी ने राजस्थानी शब्दकोश के प्रथम भाग के प्रथम खण्ड में राजस्थानी भाषा और साहित्य का विस्तृत इतिहास दिया है। पर खेद है कि उनकी दृष्टि भी डा मेनारिया से कुछ पृथक नहीं रही। उन्होंने वि स 800 से प्रारम्भ सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य को आदि काल, मध्य काल और आधुनिक काल में विभाजित कर लेखकों व उनकी कृतियों का परिचय दिया है—रूपगत अथवा प्रवृत्तिगत मूल्यांकन की दृष्टि इनकी भी नहीं रही। फिर इतिहासकार के पास ऐसी अन्तर्भेदी दृष्टि होनी चाहिए कि वह समाज और युग की आत्मा को समझ सके—श्री लालस के पास उस दृष्टि का अभाव रहा है। उन्होंने उक्त कालक्रमानुसार कुछ स्थूल साहित्यिक प्रवृत्तियों का सतही उल्लेख किया है। इतिहासकार के पास साहित्यालोचक की जो तलगामी दृष्टि होनी चाहिए, वह श्री लालस के पास नहीं रही।

डा हीरालाल माहेश्वरी ने अपनी डी फिल उपाधि के लिये सन् 1960 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपना शोध प्रबन्ध 'राजस्थानी भाषा और साहित्य (वि स 1500-1650) प्रस्तुत किया था। यह ग्रन्थ यद्यपि प्रमुखत वि स 1500-1650 तक के राजस्थानी साहित्य पर प्रकाश डालता है। इसे उन्होंने राजस्थानी भाषा और साहित्य का विकसित काल माना है। यह ग्रन्थ केवल डेढ़ सौ वर्षों के राजस्थानी साहित्य और भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करता है अत. इसे पूर्ण इतिहास नहीं कह सकते। 'राजस्थानी भाषा' शीर्षक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उन्होंने राजस्थानी भाषा के उद्भव, विकास और उसकी विविध बोलियों तथा इस भाषा के व्याकरण पर बहुत ही विस्तार से प्रकाश डाला है। यह अपने आप में जहां पूर्ण है वहां सुचिन्तित, तर्कसंगत और प्रामाणिक भी है। ग्रन्थ के शेष अध्यायों में इन डेढ़ सौ वर्षों के साहित्य, साहित्यकारों व उनकी कृतियों का उन्होंने परिचय दिया है। चारण साहित्य, जैन साहित्य, सन्त साहित्य, गद्य साहित्य व लोकसाहित्य शीर्षकों में इस काल के सम्पूर्ण साहित्य को विभाजित कर उन्होंने मूलत तद्विषयक साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का परिचय

दिया है। यह बात अवश्य है कि डा. माहेश्वरी ने कठिन परिश्रम कर, इस ग्रन्थ में प्रामाणिक सामग्री जुटाई है। हजारों हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन कर, उनकी विषयवस्तु, काव्यरूप, भाषा-सौष्ठव और साहित्यिक सौन्दर्य का आकलन भी उन्होंने किया है। उनके तथ्य-सग्रह प्रमाणपुष्ट है—यह इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। दुख है कि यह ग्रन्थ एक काल-खण्ड का साहित्येतिहास ही है। संभवतः डा. माहेश्वरी ने स्वयं ने यह अनुभव किया हो कि काश यह इतिहास पूर्ण होता तभी उन्होंने अभी तीन-चार वर्ष पूर्व केन्द्रीय साहित्य अकादमी की योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी भाषा में राजस्थानी भाषा और साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास (आधुनिक काल तक) तैयार कर प्रकाशित करवाया है। इसमें उन्होंने राजस्थानी भाषा और साहित्य का प्रारम्भ सन् 1050 से माना है और सम्पूर्ण इतिहास को प्राचीन काल, मध्य काल और आधुनिक काल में विभाजित किया है।

यह इतिहास ग्रन्थ संभवतः राजस्थानेतर भारतीयों और विदेशियों को राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास से परिचित कराने की दृष्टि से लिखा गया है अतः जहा यह सक्षिप्त है, वहाँ साहित्य, साहित्यकारों और उनकी कृतियों के परिचय देने की चेष्टा से ऊपर नहीं उठ पाया है। डा माहेश्वरी से यह अपेक्षा अवश्य थी कि वे अधुनातन साहित्येतिहास बोध से इस ग्रन्थ की रचना करेंगे और एक गहरे अभाव की पूर्ति करेंगे। शायद उनके समक्ष समय और स्थान दोनों की सीमायें रही है। हाँ, उन्होंने इस ग्रन्थ में इतना अवश्य किया है कि राजस्थानी साहित्य के आधुनिक लेखक अधिक-से-अधिक समाविष्ट हो सकें। रूपात्मक और प्रवृत्यात्मक आकलन वे इस इतिहास ग्रन्थ मे भी नहीं कर पाये। राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी (जोधपुर) ने कुछ वर्षों पूर्व राजस्थानी साहित्य के इतिहास पर 'परम्परा' (शोध पत्रिका) के तीन अक—राजस्थानी का आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल प्रकाशित किये थे। इन तीनों ही अंकों में विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित स्फुट लेख सग्रहीत हैं। इतिहास-लेखन की वह दृष्टि इनमें कतई नहीं है। इनमें काल विशेष से सम्बद्ध कई प्रवृत्तियाँ, साहित्यकार, कृतियाँ छूट गये हैं।

उपरोक्त चार ग्रन्थ ऐसे है जिन्हें कमियों के बावजूद भी राजस्थानी भाषा और साहित्य के विधिवत इतिहास की सज्ञा दी जा सकती है। ऐसी बात नहीं है कि इस दिशा में और कुछ प्रयत्न हुये ही नहीं। राजस्थानी भाषा, उसकी बोलियों, साहित्य, साहित्य की विधाओं, प्राचीन-मध्यकालीन साहित्यकारों के कृतित्व पर शोध-समीक्षापरक कार्य हुआ है। समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शोध-समीक्षात्मक लेख भी प्रकाशित होते रहते

है। अब क्योंकि राजस्थान के तीनों विश्वविद्यालयों में राजस्थानी के स्नातकोत्तर अध्ययन और शोध कार्य की व्यवस्था है अतः इस दिशा में और भी गति आई है किन्तु वैज्ञानिक साहित्येतिहास की दृष्टि से आज भी प्रामाणिक कार्य नहीं हो रहा है। केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने राजस्थानी भाषा को मान्यता दे दी है, राजस्थानी भाषा, साहित्य, संस्कृति संगम की स्थापना राज्य सरकार ने कर दी है, विश्वविद्यालय के साथ माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर भी राजस्थानी भाषा और साहित्य पढ़ाये जा रहे हैं। पिछले दशकों में इस भाषा के साहित्य सृजन में भी गति आई है। पुरस्कार, प्रकाशन की सुविधायें भी बढ़ी हैं। इस सुखद स्थिति में, साहित्य के आकलन और इतिहास-लेखन की वैज्ञानिक दृष्टि का हमारे लेखकों-विद्वानों में विकास नहीं होता है तो यह निश्चितरूप से निराशाजनक स्थिति है।

अन्त में यह निष्कर्ष निकलता है कि एक वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि से सम्पन्न प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ की राजस्थानी भाषा और साहित्य को आवश्यकता है। यह कार्य किसी एक व्यक्ति के वश का नहीं है। जो भी प्राचीन साहित्य पाण्डुलिपियों के रूप में विविध संग्रहालयों और व्यक्तियों के पास उपलब्ध है, उसे पढ़ कर और जो साहित्य अब तक प्रकाशित है, इस सबका आकलन कर, पत्र-पत्रिकाओं से सामग्री संकलित कर इतिहास लिखना एक व्यक्ति के लिये बहुत दुष्कर कार्य है। अतः किसी साहित्यिक संस्था अथवा चार-पांच विद्वानों को मिलकर इस पर कार्य करना चाहिये। यह पवित्र अनुष्ठान तभी सम्पन्न हो सकता है। लेखकों और विद्वानों को इसकी आवश्यकता तत्काल समझनी चाहिये।

राजस्थानी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन की समस्यायें

किसी भाषा के साहित्य के इतिहास-लेखन की प्रक्रिया बहुत ही जटिल है। इस कार्य में इतिहास-दर्शन के बहुमान्य सिद्धान्तों और प्रयोगों के अंगीकार की समस्या तो है ही कि इतिहास-लेखक ने किस दृष्टि से इतिहास लिखा है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के साहित्य की सम्पूर्ण उपलब्ध पाण्डुलिपियां, प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियां, उनके रचनाकारों का जीवनवृत्त इत्यादि के विषय में प्रामाणिक तथ्य एकत्र करना भी अपने आप में एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। फिर उस सम्पूर्ण साहित्य को कालखण्डों में विभाजित करना भी एक समस्या है। प्रत्येक युग की परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं। भाषा और साहित्य युग-स्थितियों का प्रभाव ग्रहण करते हुए रूपायित होते हैं। जन समाज की विचारधारा, विश्वास, आस्थायें, शासनतन्त्र, समाज की आर्थिक और नैतिक अवस्था—ये सब साहित्य-रचना की सहस्राब्दियों की लम्बी परम्परा को कतिपय कालखण्डों में विभाजित कर ही सम्भव हो सकता है। साहित्येतिहास-लेखन के कुछ आधार स्रोत होते हैं—जैसे साहित्यकारों की प्रकाशित-अप्रकाशित रचनायें, साहित्यकारों व साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियां, साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृत्तियों से सम्बन्धित आलोचनात्मक व अनुसंधानात्मक ग्रन्थ, विभिन्न युगों की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री, शिलालेख, वंशावलियां इत्यादि। इसी प्रकार इतिहास के काल-विभाजन के भी कुछ आधारभूत तत्व होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि वे अब तक क्या रहे हैं और क्या हो सकते हैं?

अब तक राजस्थानी साहित्य के इतिहास विषयक जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके लेखकों ने प्रकारान्तर से यह बात-न-बात स्वीकार किया है कि वे राजस्थानी साहित्य की सम्पूर्ण अप्रकाशित कृतियों का पता नहीं लगा सके। अनेक ऐसी हस्तलिखित पुस्तकें रही हैं जिनके रचनाकाल का निर्धारण सम्भव नहीं हो सका। अनेक ऐसे लेखक हैं जिनके जीवनवृत्त का प्रामाणिक इतिवृत्त नहीं मिला। इन सब परिस्थितियों में प्रामाणिकता से कालविभाजन का कार्य कठिन रहा है।

ऐतिहासिक काल (प्राचीन मध्य, वर्तमान या आधुनिक) शासक अथवा शासनकाल (एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, राजपूत युग) साहित्य नेता एवं उसकी प्रभाव दृष्टि (भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल) राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आन्दोलन (भक्तिकाल, पुनर्जागरणकाल, सुधारकाल) साहित्यिक प्रवृत्ति (वीर गाथा काल, रीतिकाल, छायावाद इत्यादि) इत्यादि साहित्येतिहास के काल-विभाजन के सामान्य आधार-तत्व रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व साहित्य का काल-विभाजन उपरोक्त आधार तत्वों में से ही किसी को आधार बना कर हुआ है।

एक प्रश्न यहाँ उठ सकता है। क्या काल-विभाजन आवश्यक है? क्या साहित्य की अखण्ड परम्परा का इतिहास बिना किसी काल-विभाजन के एक अखण्ड धारा के रूप में नहीं लिखा जा सकता? इसका उत्तर यही होगा कि यह सम्भव तो है किन्तु विभिन्न युगों की स्थितियों-परिस्थितियों, दिशा-परिवर्तनों व रूप-परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में जो इतिहास लिखा जायेगा, वह अधिक समग्र और प्रामाणिक होगा। इससे साहित्य का विकास-क्रम अधिक स्पष्ट होगा। मूल प्रश्न यह है कि साहित्येतिहास के काल-विभाजन का सही आधार क्या हो? समान प्रवृत्ति और प्रवृत्ति एक विचारदर्श या युगदर्श का निर्माण करती है। जिस प्रकार विशाल नदी के एक प्रवाह में अनेक अन्तर-नदियाँ होती है, इसी प्रकार इतिहास में भी अनेक प्रवृत्तियाँ होती है। इन अनेक प्रवृत्तियों के समुच्चय रूप में ही किसी काल की सीमा का निर्धारण होता है। और इस प्रकार काल-खण्डों में प्रवृत्तियों के समुच्चय को बांध कर ही साहित्य का इतिहास लिखना समीचीन प्रतीत होता है। अतः साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही साहित्य के इतिहास के कालविभाजन का आधार हो सकता है।

राजस्थानी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में जो काल-विभाजन हुआ है, अब हमें उस पर दृष्टि डालनी चाहिये। क्या हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने किसी साहित्यिक प्रकृति और प्रवृत्ति की समानता के आधार को अपना कर उपरोक्त विभाजन किया है अथवा कोई अन्य तत्व आधार रहा है।

राजस्थानी साहित्येतिहास पर कार्य करने वाले अथवा यह कहना अधिक संगत रहेगा कि इसके काल-विभाजन पर विचार करने वाले विद्वानों में डा. टेसीटरी, डा. मोतीलाल मेनारिया, प्रो. नरोत्तम स्वामी, डा. हीरालाल माहेश्वरी, डा. सीताराम लालस, डा. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव, श्री गजराज ओझा, श्री उदयसिंह भटनागर, डा. पुरुषोत्तम मेनारिया प्रमुख रहे है। डा. टेसीटरी ने राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास को केवल दो

कारों में विभाजित किया है—

1 प्राचीन डिंगल काल—ई. स. 1250 से 1650।

2 अर्वाचीन डिंगल काल—ई. स. 1650 से आधुनिक काल तक।

डा. मोतीलाल मेनारिया ने इसे चार निम्नोक्त कालों में बांटा है—

1 प्रारम्भ काल वि. सं. 1045 से 1460

2 *पूर्व मध्य काल वि. स. 1460 से 1700*

3 उत्तर मध्य काल वि. सं. 1700 से 1900

4 आधुनिक काल वि. सं. 1900 से

प्रो. नरोत्तम स्वामी का काल विभाजन इस प्रकार है—

1 प्राचीन काल वि. सं. 1150 से 1550

2 मध्य काल वि. स. 1550 से 1875

3 अर्वाचीन काल वि. सं. 1875 से

डा. हीरालाल माहेश्वरी के विचार से यह काल विभाजन इस प्रकार है—

1 विकास काल अथवा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी वि. स. 1170 से 1500

2 नवीन अथवा प्राचीन राजस्थानी का नवीन काल वि. स 1500 से

डा. सीताराम लालस ने निम्नोक्त काल विभाजन कर राजस्थानी भाषा और साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है—

1 आदि काल वि. सं. 800-1460

2 मध्य काल ,, ,, 1460-1900

3 आधुनिक काल *1900-*

डा. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव ने अपने 'डिंगल साहित्य' शोध-प्रबन्ध में जो काल विभाजन दिया है, वह निम्नोक्त है—

प्राचीन ई. स. 1300-1650

मध्य काल ई. स. 1650-1850

आधुनिक काल ई. स. 1850-

श्री गजराज ओझा ने नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका के अपने एक लेख में राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास का काल निर्धारण निम्नानुसार किया है—

1. प्रारम्भ काल वि. सं. 1000-1400

2 मध्य काल वि. सं. 1400-1800

3 उत्तर काल वि. सं. 1800-
(आधुनिक)

प्रो उदयसिंह भटनागर एक ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास को छः कालखण्डों में विभाजित कर इस विषय पर तर्क-संगत प्रकाश डाला है। वह इस प्रकार है—

1 प्रथम उत्थान या सूत्रपात युग वि. सं. 700-1000
2 द्वितीय उत्थान या नव विकास काल वि. सं. 1000-1200
3 तृतीय उत्थान या वीर गाथा काल वि. सं. 1200-1500
4 चतुर्थ उत्थान या भक्ति काल वि. सं. 1500-1700
5 पंचम उत्थान या रीति काल वि. सं. 1700-1900
6 छठा उत्थान या आधुनिक काल वि. सं. 1900-

उपरोक्त समस्त काल विभाजनों का जब विश्लेषण करते हैं तो कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। एक—राजस्थानी साहित्य के आदिकाल अथवा प्रारम्भ काल अथवा प्राचीन काल के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। राजस्थानी साहित्य के प्रारम्भ की एक सीमा रेखा वि. सं. 700 (प्रो. उदयसिंह भटनागर) है तो दूसरी सीमा रेखा ई. स. 1300 है (डा. जगदीश-प्रसाद श्रीवास्तव। दो—इसी क्रम में मध्यकाल और आधुनिक काल की कालावधि को आगे-पीछे खींचा गया है। तीन—इन सभी इतिहास लेखकों ने (प्रो. उदयसिंह भटनागर को छोड़कर) प्रमुखतः ऐतिहासिक काल के क्रम में ही कालविभाजन किया है—किसी साहित्यिक प्रवृत्ति अथवा साहित्यकार के नाम पर नहीं। डा. टेसटरी और डा. हीरालाल माहेश्वरी ने भाषा-रूप (डिंगल, राजस्थानी) को आधार बनाकर काल विभाजन किया है। चार—आधुनिक काल के प्रारम्भ के सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान एक मत हैं। यदि आदिकाल के प्रारम्भ को छोड़ दें तो सभी विद्वानों के कालविभाजन में कुल मिलाकर 50-75 वर्ष का अन्तर है। और अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि राजस्थानी साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन के अनुसरण में ही कतिपय हेर-फेर के साथ उपरोक्त कालविभाजन किये हैं। यह कुछ उचित भी लगता है। आखिर राजस्थान प्रदेश उत्तर भारत की एक भौगोलिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक इकाई है। उत्तर भारत के जन-जीवन, शासन-तन्त्र और समाज व्यवस्था में जो भी परिवर्तन पिछले एक हजार वर्षों में हुये, राजस्थान उनसे अप्रभावित कहाँ रहा? और फिर भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी देखें तो हिन्दी और राजस्थानी में प्रवृत्ति और प्रकृति का साम्य भी है।

राजस्थानी साहित्य के इतिहास के उपरोक्त काल विभाजन के कुछ भी आधार रहे हों—इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपरोक्त इतिहासकारों ने

एक आधारभूत कार्य कर राजस्थानी भाषा और साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा की है। आज साहित्येतिहास का दर्शन बहुत विकसित हो गया है। कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रयोग में आने लगे हैं। कालविभाजन ही नहीं, नामकरण को लेकर भी नई वैज्ञानिक दृष्टियाँ बनी हैं। अत यह उपयुक्त लगता है कि उन सबके प्रकाश मे राजस्थानी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन और कालखण्डों के नामकरण पर विद्वान् फिर से चिन्तन करें।

उपरोक्त कालविभाजन में सबसे बड़ी कमी जो दिखाई देती है वह यह कि कालविभाजन के निर्धारण के समय साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्ति को केन्द्र में नहीं रखा गया। यही बात इन कालखण्डों के नामकरण के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। नामकरण का वैज्ञानिक आधार सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही अधिक संगत लगती है क्योंकि वही साहित्य-चेतना की प्रेरक होती है। राजस्थानी साहित्य के इतिहासकार ऐसा नही कर पाये। पहले की अपेक्षा आज, राजस्थानी साहित्य के प्राचीन काल और मध्य काल विषयक सामग्री काफी उपलब्ध है। पिछले दशकों मे जो शोध कार्य हुआ है, उससे जहा नये-नये ग्रन्थों व कृतिकारों का पता लगा है, वहाँ नई साहित्यिक प्रवृत्तियों की खोज भी हुई है। अतः अब नये सिरे से सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य का रूपात्मक और प्रवृत्तिगत मूल्यांकन कर, कालविभाजन तथा नामकरण किया जाना चाहिये। यह सर्वविदित है कि राजस्थानी साहित्य के प्रारम्भ का समय अपभ्रंश काल रहा है। न तब सुस्पष्ट किसी डिंगल अथवा राजस्थानी भाषा का रूप विकसित हुआ था और न इस काल में स्पष्ट साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं। यह स्थिति हिन्दी के साथ भी रही है अतः इसे आसानी से आदिकाल की संज्ञा दी जा सकती है। शेष कालविभाजन पर सम्पूर्ण प्रामाणिकता के साथ आज पुनर्विचार की आवश्यकता है और यह काम अब हो जाना चाहिए जिससे राजस्थानी भाषा और साहित्य पढ़ने वाली नई पीढ़ी को एक संगत और सुस्पष्ट दृष्टि मिल सके।

राजस्थानी भाषा का उद्भव : हिन्दी से सम्बन्ध

'हिन्दी और राजस्थानी के भाषिक सम्बन्ध' पर निश्चयात्मक रूप से कुछ कहने के पूर्व यह जरूरी है कि इन दोनों भाषाओं की उत्पत्ति के इतिहास की क्रमिक जानकारी प्राप्त कर ली जाये। यह विषय बहुत ही संवेदनशील व नाजुक है और अवैज्ञानिक, अतर्कसंगत, निराधार बकवास से कई प्रकार के विवाद उठ सकते हैं। धर्म, सम्प्रदाय, जाति और भाषा की हठधर्मिता कितनी विध्वंसक होती है, हमारे देश का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। अतः आवश्यक है कि इस मुद्दे पर बहुत ही गंभीर वैज्ञानिक तर्क के साथ विचार किया जाय।

देश-विदेश के भाषाशास्त्री इस मत के हैं कि संसार की सम्पूर्ण भाषायें कुछ वर्गों में बटी हुई हैं। प्रत्येक भाषा किसी-न-किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध-सम्पृक्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी भाषा अपने रूप और प्रकृति में पूर्णतः स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रखती। भारतवर्ष में जो भाषायें आज प्रचलित हैं वे मूल रूप से आर्य व द्रविड परिवार की हैं। हिन्दी व राजस्थानी इस दृष्टि में आर्य परिवार में परिगणित होती है। इससे एक तथ्य तो सिद्ध होता है कि यह दोनों भाषायें एक ही आर्य परिवार की घटक है। किन्तु इन दोनों का भाषाशास्त्रीय स्वरूप समझने के लिये यह आवश्यक है कि इनके ऐतिहासिक विकासक्रम पर संक्षिप्त दृष्टिपात किया जाये। इनके संरचनात्मक रूप (Structural form) की विश्लेषणात्मक समीक्षा भी जरूरी है। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की पृथक्-पृथक् सरणियों से चलती आर्य परिवार की भाषायें आज अपने पृथक्-पृथक् रूपों में इस विराट देश के अलग-अलग प्रदेशों में विभिन्न प्रादेशिक-लौकिक भाषाओं के रूप में बोली और लिखी जाती है। इन भाषाओं के विपुल साहित्य-भण्डार है। हिन्दी और राजस्थानी भी आज अपने आंचल में साहित्य का विपुल भण्डार छिपाये हुये है।

भाषा विज्ञान से यह बात स्पष्ट होती है कि खड़ी बोली हिन्दी जो हमारी राष्ट्र भाषा है की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश व अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से हुई। पश्चिमी हिन्दी व पूर्वी हिन्दी का सम्मिलित स्वरूप खड़ीबोली हिन्दी के

नाम से पहचाना जाता है। इसका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। राजस्थानी की उत्पत्ति के विषय में भाषाशास्त्री एकमत नहीं हैं। ग्रियर्सन, टैसटरी, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, बाबू श्यामसुन्दरदास, डा. मोतीलाल मेना-रिया आदि विद्वानों के पृथक्-पृथक् विचार हैं। डा. भोलनाथ तिवारी का मत है कि राजस्थानी का विकास शौरसेनी-नागर अपभ्रंश के पूर्वोत्तरी रूप से हुआ है। डा. सुनीतिकुमार इसकी उत्पत्ति सौराष्ट्री अपभ्रंश से मानते हैं। डा. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी गुर्जरी व गुर्जर अपभ्रंश से इसका सम्बन्ध स्थापित करते है। गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यन्त निकट का रहा है। दोनों प्रदेशों की संस्कृति, इतिहास, भूगोल आज भी अनेक समानतायें लिये हुये है। अतः भाषाशास्त्री जब यह कहते है कि गुर्जरी अपभ्रंश से राजस्थानी की उत्पत्ति हुई है तो बात कुछ प्रामाणिक लगती है। इस विषय के अधिक विस्तार में नहीं जाकर इतना ही स्वीकार कर लेना पर्याप्त है कि गुर्जरी अपभ्रंश से राजस्थानी की उत्पत्ति हुई और शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी की उत्पत्ति हुई है। इस ऐतिहासिक-तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय दृष्टि से एक अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि इन दोनों भाषाओं के सरचनात्मक स्वरूप (Structural form) में प्रारम्भिक अनेक निकट की समानतायें हैं। यह बात सर्वथा अलग है कि भाषाशास्त्री इन दोनों को पृथक्-पृथक् भाषाओं की संज्ञा देते है। अनेक ऐसे भाषिक लक्षण, तत्व एव रूप है जो हिन्दी और राजस्थानी को एक-दूसरी से पृथक् भाषिक अस्तित्व प्रदान करते है।

सर्वप्रथम राजस्थानी लिपि पर चर्चा करें। यों राजस्थानी लिपि अपनी लिखावट में देवनागरी ही है। हिन्दी की लिपि भी देवनागरी ही है। पर जब हम राजस्थानी की प्राचीन लिपि की लिखावट पर सूक्ष्मता से दृष्टिपात करते हैं तो उसके उरम मे एक वैशिष्ठ दिखाई देता है। यह लिपि शब्दशीर्ष पर रेखा खींचकर घसीट रूप में लिखी जाती है। महाजन-व्यापारी आज भी इस प्राचीन लिपि का प्रयोग करते हैं। इसे महाजनी या वाण्यावटी लिपि कहते हैं। इसके अक्षर मुडिया कहलाते हैं। इनमे मात्रायें नहीं लगतीं। बादशाह अकबर के अर्थ सचिव राजा टोडरमल इस लिपि के आविष्कारक कहे जाते हैं। इस धारणा की पुष्टि निम्नोक्त दोहे से भी होती है—

देवनागरी अति कठिन, स्वर व्यंजन व्यवहार।
ताते जग के हित सुगम, मुडिया कियो प्रचार॥

इसके अतिरिक्त राजस्थानी वर्णमाला में कतिपय ऐसे वर्ण हैं, ध्वनियाँ है जो हिन्दी देवनागरी मे उपलब्ध नहीं है। ळ, व, ड़ कुछ ऐसे व्यंजन हैं

जिनका प्रयोग देवनागरी हिन्दी मे नहीं मिलता। राजस्थानी वर्णमाला मे तालव्य 'श' भी नही है—उसके स्थान पर दन्त्य 'स' ही है। हां, पढते समय जहां तालव्य 'श' होता है वहां उसी का उच्चारण होता है। इसी प्रकार मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण राजस्थानी मे 'ख' होता है।

जब इन दोनों भाषाओं के उच्चारण तंत्र पर दृष्टिपात करते हैं तो यहां भी अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। 'य' का उच्चारण राजस्थानी मे 'ज' और 'य' दोनो रूप मिलते हैं। शब्द का प्रथम अक्षर यदि 'य' है तो उसका उच्चारण 'ज' होगा। यदि शब्द के कही मध्य मे 'य' है तो उसका उच्चारण 'य' ही रहेगा। इसी प्रकार राजस्थानी मे ल-ळ और व-ब के उच्चारण मे भी भेद है। कई ऐसे शब्द है जहां इन वर्णों के गलत प्रयोग से अर्थ बदल जाते हैं। एक-दो उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

'आलो' से अर्थ गीला से है किन्तु 'आळो' से अर्थ दीवार मे बने ताक मे हो जाता है। 'सूल' से अर्थ सीधा-सरल से है किन्तु 'सूळ' से अर्थ 'शूल' से हो जाता है। 'वात' से अर्थ वायु से है किन्तु 'बात' से अर्थ कथा-कहानी से लिया जाता है। इस प्रकार अनेकों ऐसे शब्द राजस्थानी मे है जिनके अर्थ गलत वर्ण-प्रयोग से बदल जाते हैं।

ध्वनि-परिवर्तन भाषाशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टि से राजस्थानी और देवनागरी, हिन्दी की ध्वनियों पर जब विचार करें तो ध्वनि-साम्य के साथ कई असमानतायें भी दिखाई देती हैं। अक्षरो के आगम और लोप की प्रक्रिया मे राजस्थानी भाषा मे अर्थ-परिवर्तन, अर्थ-संवर्द्धन का क्रम कुछ विशेष ही दिखाई देता है।

हिन्दी व्याकरण के अंग-उपांग के सिद्धान्त सामान्यरूप से राजस्थानी भाषा में भी दिखाई देते हैं। किन्तु जब हम इनकी गहनता और विस्तार मे जाते हैं तो प्रतीत होता है कि राजस्थानी भाषा के व्याकरण-सिद्धान्तो की कुछ पृथक् ही विशेषता है। लिंग, काल, वचन के निर्माण की प्रक्रिया राजस्थानी की अलग है और हिन्दी की अलग। कारक, सर्वनाम, विशेषण के रूप-निर्माण की प्रक्रिया मे भी अन्तर दिखाई देता है। वाक्य-विन्यास के सिद्धान्त भी दोनो भाषाओं(हिन्दी-राजस्थानी)के पृथक्-पृथक् हैं। हां, जहां तक शब्द-सम्पदा का प्रश्न है हिन्दी-राजस्थानी मे निकट सामिप्य है। तद्भव, तत्सम, देशज, विदेशी शब्दो के स्रोत दोनो भाषाओं के एक ही है। कारण साफ है—इन दोनो भाषाओं की जन्मस्थलि एक है, इनके बोलने वाले एक ही भू-प्रदेश के निवासी है, दोनों की संस्कृति एक है, दोनो भाषाओं का उद्भव और विकास का केन्द्र एक ही भूखण्ड है। इसलिये शब्द-सम्पदा की दृष्टि से,

हिन्दी-राजस्थानी में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। प्राकृत-अपभ्रंश के अनेक ऐसे शब्द हैं जो राजस्थानी मे आज न्यूनाधिक रूप-परिवर्तन के साथ विद्यमान हैं। हिन्दी में वे विलुप्त प्राय हैं।

उपरोक्त विवेचन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और राजस्थानी मे कई समानतायें है तो कई असमानतायें भी हैं। किन्तु भाषाशास्त्रीय समग्र दृष्टि से इन दोनो भाषाओं की रूपात्मक संरचना पर विचार करने के पश्चात् भाषाविद् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ये दोनों पृथक्-पृथक् भाषायें है। गुजराती मे तो राजस्थानी का सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है किन्तु हिन्दी से इसका निकट सम्बन्ध स्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु एक महत्वपूर्ण बात राष्ट्रीय हित मे हमें स्वीकार कर लेनी चाहिये कि भाषाओं मे वहीं विरोध नही होता। अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाओं की भांति राजस्थानी भी इस प्रदेश की भाषा है। हिन्दी और राजस्थानी का जन्म एक ही जननी की गोद से हुआ है—एक ही धरती पर वे पली-पोषी हैं, विकसित हो रही हैं। राजनीति भले ही विरोध की भाषा बोले अथवा सिखाये, भाषाशास्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि जोड़ने का काम करती है। भाषाओं के विकास की प्रक्रिया के मूल सूत्र को जो जानते-समझते है, वे कभी भाषाओं के टकराव की बात नही करते। भाषा कोई वस्तु नही होती, वह एक प्रक्रिया है। कोई भी भाषा हो, उसकी सत्ता, उसका अस्तित्व उन लोगों के साथ है जो उसका प्रयोग करते हैं। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य पहले है और भाषा बाद मे।

राजस्थानी का आधुनिक गद्य साहित्य : एक परिदृश्य

यह निर्विवाद है कि राजस्थानी गद्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। अधुनातन साहित्यिक गवेषणाओं से यह सिद्ध हो गया है कि 10 वी व 11 वी शताब्दियों से राजस्थानी में अबाध गति से गद्य लिखा जा रहा है। 15 वी, 16 वी व 17 वी शताब्दियों में तो यह अत्यन्त उन्नत अवस्था में रहा। हाँ, उत्तर मध्यकाल में इसके प्रभाव में शिथिलता अवश्य आ गई। हिन्दी गद्य के साथ भी इस काल में यही स्थिति रही है।

किसी भी भाषा और साहित्य की प्राणवन्तता उसकी सृजन-क्षमता में निहित होती है। यदि युग की नवीन साहित्य विधाओं और चेतना के साथ चरण बढ़ाते हुए वह आगे बढ़ती है तो यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि प्रमुख भाषा और साहित्य में प्राणवन्तता है। युग परम्परा के अनुसरण के साथ भाषा और साहित्य में मौलिक विधाओं को जन्म देने की शक्ति भी होती है। यह शक्ति उस भाषा को और भी गौरवमय बना देती है। राजस्थानी का प्राचीन गद्य इस सत्य का प्रमाण है कि ब्रज भाषा और हिन्दी की समकालीन गद्य विधाओं में वह अपनी कतिपय मौलिकताओं को लेकर अग्रगण्य रहा है। अर्थात् राजस्थानी भाषा और साहित्य में वह शक्ति अपरिमेय रही है जो प्राणवन्तता प्रदान करती है।

प्रश्न आधुनिक काल का है। अर्थात् सम्वत् 1900 से अब तक का है। इस अवधि में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में गद्य की जिन नूतन विधाओं ने जन्म ग्रहण किया है, क्या राजस्थानी गद्य में भी वे जन्मी हैं ? अथवा उनसे पृथक् किन्हीं अन्य गद्य विधाओं की उसमें अवतारणा हुई है ? ख्यात, बात, विगत, पीढ़ी, दवावैत, वचनिका आदि प्राचीन और मध्यकालीन राजस्थानी गद्य की अत्यन्त सम्पन्न और अपने आप में मौलिक विधाएँ रही हैं। आधुनिक काल की गद्य विधाएँ निबन्ध, उपन्यास, नाटक, कहानी, आत्मकथा, जीवनी, डायरी, संस्मरण, रेखाचित्र, गद्यगीत, पत्र, रिपोर्ताज, समालोचना आदि हैं। मेरे इस निबन्ध का मूल प्रयोजन राजस्थानी गद्य में इन विधाओं के मूल्यांकन का ही है। बाल साहित्य, यात्रा साहित्य और विज्ञान साहित्य भी आज के युग की मांग है। हिन्दी के साथ अन्य भारतीय

भाषाओं में इस प्रकार का साहित्य भी द्रुत गति से प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है। क्या राजस्थानी गद्य इन सभी विधाओं और साहित्य विषयों से अलंकृत है ? यह किसी को स्वीकार नहीं हो सकता कि उपयुक्त गद्य रूपों में राजस्थानी में कुछ लिखा ही नहीं गया। प्रश्न मात्रा और गुणात्मकता का है, सृजन की गति का है। दो तीन गद्य रूप ऐसे भी हैं जिनमें साहित्य नहीं के बराबर लिखा गया है। अन्य गद्य रूपों में जो साहित्य मिलता है वह मात्रा में तो बहुत कम है ही किन्तु साहित्यिक उत्कृष्टता की दृष्टि से भी उसे अधिक सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

पं. रामकर्ण आसोपा, शिव चन्द्र भरतिया, सूर्यमल्ल मिश्रण आदि राजस्थानी गद्य के आधुनिक काल के, प्रथम चरण के लेखक हैं। पं आसोपा राजस्थानी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे। इन्होंने साहित्य समीक्षा और सम्पादन के क्षेत्र में उच्च कोटि का कार्य किया। ललित साहित्य का सृजन इन्होंने नहीं किया। श्री भरतिया राजस्थानी के भारतेन्दु माने जाते हैं। नवजागरण काल के वे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उन्होंने नाटक, उपन्यास और कहानियां लिख कर राजस्थानी गद्य की श्रीवृद्धि की। सूर्यमल्ल मूलतः कवि थे किन्तु इनके द्वारा समय-समय पर राजस्थानी में लिखे गए पत्र आज गद्य साहित्य की धरोहर बन गए हैं। सूर्यमल्ल के जो पत्र प्रकाश में आए हैं वे यद्यपि राजनीति और देश प्रेम से ओत-प्रोत हैं किन्तु उनमें राजस्थानी की गद्यात्मक अभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्रगट हुई है। प्राचीन काल और मध्य-काल का राजस्थानी पत्र-साहित्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। नाहटाजी के व्यक्तिगत संग्रहालय में ऐसे हजारों पत्रों का संग्रह है। यह पत्र राजाओं और जैनाचार्यों के हैं। इनके विषय मूल रूप से धर्म और राजनीति हैं। राजस्थान सरकार के पुरालेखागारों में भी ऐसे अनेक पत्र सुरक्षित हैं जो राजाओं के मध्य राजनैतिक अथवा शासकीय विषयों को लेकर लिखे गए थे। उनमें कुछ व्यक्तिगत पत्र भी हैं। प्रवासी राजा-रानियों के प्रेम-पत्रों का संग्रह भी वहां है। प्रेम-पत्रों की भाषा साहित्यिक, अलंकृत और काव्य-मयी है। विज्ञप्तियों और आदेशों के रूप में विभिन्न राजपत्रों में प्रकाशित पत्र साहित्य का एक और रूप भी हमें प्राप्त होता है किन्तु इनकी भाषा और शैली राजकीय औपचारिकता से पूर्ण है। साहित्यिक स्वरूप का इनमें कोई प्रश्न नहीं उठता। कहीं-कहीं प्रशंसाभरी उपमाओं की झड़ी अवश्य देखने में आती है। राजाओं के पत्र-व्यवहार में भी राजनीति और शासकीय एटिकेट की ही प्रधानता है। आत्मा की स्वच्छंदता, भावना की तरलता और कल्पना की मुक्तता का इस पत्र साहित्य में अभाव है। हां, प्रवासी राजा-

रानियो के पत्रों अथवा कुछ अन्य व्यक्तिगत प्रेम-पत्रों में साहित्यिकता के दर्शन अवश्य होते है। उनमें प्रणय अनुभूतियों की मार्मिक व्यजना हुई है। उपर्युक्त अधिकांश पत्र साहित्य उन लोगो का है जो साहित्य के क्षेत्र मे स्मरणीय नही है। मध्यकाल और प्राचीन काल के गद्य लेखकों मे ऐसे किसी भी लेखक का नाम नही मिलता जिसने स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक पत्र लिखे हों और राजस्थानी पत्र-साहित्य को समृद्ध किया हो। और मुझे यह कहते हुए भी दुख होता है कि आधुनिक काल मे भी गद्य की यह विधा राजस्थानी में उपेक्षित-सी ही है। श्री बदरीप्रसाद साकरिया का नाम इस प्रसंग मे अवश्य उल्लेखनीय है। इनके पत्र अत्यन्त सरस, रोचक और साहित्यिकता लिए होते है। मरुवाणी अथवा राजस्थानी की अन्य पत्रिकाओ मे कभी-कभी सम्पादक के नाम कुछ पत्र प्रकाशित होते रहे है किन्तु वे भी व्यावहारिक अथवा किसी शका के समाधानार्थ। दुख तब ज्यादा होता है जब राजस्थानी गद्य के लेखक अपने पारस्परिक पत्र व्यवहार में हिन्दी अथवा अन्य किसी भाषा का व्यवहार करते है। राजस्थानी के लेखक यदि अपने पत्रों में राजस्थानी माध्यम का प्रयोग किया करें तो कभी-कभी उनकी लेखनी से अनचाहे भी उच्च कोटि के पत्रो का जन्म हो जाये। विश्व का साहित्य इसका साक्षी है कि लेखको के व्यक्तिगत पत्रव्यवहार ने पत्र-साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान अर्जित कर लिया। हिन्दी मे श्रीधर पाठक के पत्र, प्रेमचन्द के पत्र, द्विवेदीजी के पत्र आदि ने स्थान बनाया ही है। गद्य की स्वतंत्र विधा के रूप मे राजस्थानी मे पत्र लिखे जाने चाहिए।

जीवनी और आत्मकथा साहित्य को लीजिये। पोप ने एक जगह कहा है कि मनुष्य के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है। साहित्य मे मनुष्य का ही अध्ययन होता है किन्तु आत्मकथा और जीवनियों मे वह अधिक वास्तविक रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत होता है। इसलिये जीवनी और आत्मकथा साहित्य समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी माने गये है। उनसे जीवन निर्माण की प्रेरणा प्राप्त होती है। कथा शैली मे लिखी गई आत्मकथायें और जीवनियां अपनी रोचकता के कारण साहित्य की अमूल्य निधियां बन जाती हैं। आत्मकथा और जीवन शैली मे लिखी गई कथा-कृतियां भी अमर हो जाती है। मध्यकाल मे 'परची' के नाम से जीवनियो के कुछ रूप मिलते है। यह 'परचियां' गद्यात्मक और पद्यात्मक—दोनों प्रकार की होती थीं। सन्तो ने परचियां लिखी हैं। दयालजी महाराज की परची, पीपाजी की परची इसके उदाहरण है। 17 वी शताब्दी में लिखा गया एक ग्रन्थ मिलता है—दलपत विलास। श्री रावत सारस्वत ने इसे सम्पादित कर प्रकाशित किया है। यह

गद्यात्मक है और इसमें बीकानेर नरेश दलपतसिंह की जीवनी है। इसी प्रकार 'मान मंडन विलास' में उदयचन्द भंडारी ने महाराजा मानसिंह की जीवनी लिखी है। यह पद्यात्मक है। स्वयं मानसिंहजी ने 'जालन्धर चरित' में अपनी आत्मकथा के कुछ अंश पद्य में लिखे हैं। 'भिक्षु दृष्टान्त' एक और कृति मिलती है जिसके लेखक जयाचार्य हैं। यह प्रकाशित है और इसमें तेरापंथ के आचार्य मुनि भिक्षु की जीवनी और संस्मरण हैं। कुछ और भी व्यक्तिगत जीवनियां मिलती हैं। श्री दीनदयाल ओझा ने नेमिनाथ, पंचेश्वरी आदि की लघु जीवनियां लिखी हैं। किन्तु जीवनी और आत्मकथा साहित्य के तत्वों का पूरा समाहार इनमें नहीं हो सका है। आश्चर्य है, आधुनिक काल में, गद्य की अन्य विधाओं में तो राजस्थानी में सृजन हुआ किन्तु जीवनी और आत्मकथा की एक भी कृति देखने में नहीं आती। 'ख्यात' इतिहास-ग्रन्थ हैं। ख्यातों में जीवनियों के अंश उपलब्ध होते हैं। किन्तु उन्हें जीवनी विधा के अन्तर्गत नहीं ले सकते। सन् 1948 में श्रीमन्त कुमार व्यास ने जोधपुर से मारवाड़ी मासिक पत्र निकाला था। उस पत्र में 'यूरोड़ा मतीरा' स्तम्भ के अन्तर्गत राजस्थान के प्रसिद्ध लेखकों और नेताओं की लघु जीवनियां प्रकाशित हुई थीं। इन पंक्तियों के लेखक ने कुछ लघु जीवनियां तब उसमें प्रकाशित करवाई थी। हिन्दी साहित्य में भी उच्च कोटि की जीवनियों और आत्मकथाओं का आज भी अभाव है। कुछ विद्वान भारतीय जीवन दर्शन को इस अभाव का कारण बताते हैं। अपने सम्बन्ध में अपने ही मुंह से अथवा कलम से कुछ कहना अथवा दूसरे से अपनी यशोगाथा सुनना या लिखवाना हमारे यहां हेय माना गया है। राजस्थानी में जीवनी और आत्मकथा साहित्य के अभाव का कारण भी यही माना जाना चाहिये। गद्य साहित्य की इस महत्वपूर्ण विधा के अभाव में साहित्य का एक अंग तो अपूर्ण रहता ही है, साथ ही साहित्यिक शोध और गवेषणा के कार्य में भी अनेक कठिनाइयां आती है। साहित्यिक गवेषणा करने वाले विद्वान् इस कठिनाई से भलीभांति परिचित हैं कि कवियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री एकत्र करते समय उन्हें कितनी असुविधा होती है। जीवनी और आत्मकथायें युग के दर्पण भी हैं। जाति और देश का इतिहास उनमें प्रतिबिम्बित होता है। अस्तु राजस्थानी गद्य के लेखकों को इस महत्वपूर्ण विधा की यों उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। राजस्थान के साहित्यकारों, सन्तों, कलाकारों और जन-विभूतियों की जीवनियां लिखी जानी चाहिए। यह साहित्य जहां प्रेरक होगा, वहां गद्य की अभिव्यक्ति को भी सामर्थ्य प्रदान करेगा।

संस्मरण साहित्य की दशा भी सुखद नहीं है। साहित्य में इन्हें जीवनी

साहित्य का अंग ही माना गया है। जीवन की सत्य घटनाओं को संस्मरण में ललित व्यंजना दी जाती है। प्राचीन और मध्यकालीन गद्य साहित्य में संस्मरण ढूंढना उचित नहीं क्योंकि यह गद्य की आधुनिक विधा है। डा. रामसिंह तंवर और श्रीलाल मिश्र ने कुछ संस्मरण लिखे हैं। इन लेखकों द्वारा लिखे गये संस्मरण 'मरुवाणी' के अंकों में प्रकाशित हुए हैं। 'राजस्थान का सूरज, याद जिकी भुलाई कदे कोनी भूलै' संस्मरण बड़े हृदयस्पर्शी हैं। यह दुख के साथ लिखना पड़ता है कि राजस्थानी गद्य में संस्मरणों का एक भी स्वतन्त्र पुस्तकाकार अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

रेखाचित्र भी एक आधुनिक विधा ही है अतः इसे भी प्राचीन साहित्य में खोजना उचित नहीं। विद्वानों ने इसे गद्य-काव्य के निकट माना है। ये व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं और इनमें वर्णन की प्रधानता होती है। शब्दों के सहारे व्यक्ति और घटनाओं को मूर्त कर दिया जाता है। रेखाचित्रों में बाह्य के साथ आभ्यन्तर भी उभर कर प्रकट होता है। अर्थात् चरित्र का उद्घाटन भी होता है। प्रसन्नता है कि राजस्थानी में इस विधा की पूर्ति हो रही है। रेखाचित्र-कला के साथ उनमें वह उत्कृष्टता भी है जो कृति को साहित्यिक गरिमा प्रदान करती है। मुरलीधर व्यास, रानी लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, श्रीलाल नथमलजी जोशी आदि लेखकों की कलम ने राजस्थानी में अत्यन्त सुन्दर रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। मुरलीधर व्यास का 'काबुली नसीरुद्दीन' एक अत्यन्त सशक्त रेखाचित्र है। रेखाचित्र शैली में लिखी कहानियों के एक दो संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। रामदेव आचार्य, रामगोपाल विजयवर्गीय, गिरिराज भंवर, गुलाब कवर शेखावत, दामोदर प्रसाद आदि राजस्थानी के अन्य रेखाचित्र लेखक हैं। इन लेखकों द्वारा रचित रेखाचित्रों में शब्द सौष्ठव, क्षिप्रता और व्यंजना के अपूर्व दर्शन होते हैं।

गद्य काव्य राजस्थानी में लिखा अवश्य जा रहा है किन्तु बहुत कम मात्रा में। यदि गद्य काव्य को केवल भावात्मक गद्य ही मानलें तो इसकी परम्परा राजस्थानी में बहुत प्राचीन है। ख्यात, वात, वचनिका में ऐसे अनेक काव्यमय स्थल हैं जो सहज ही गद्य काव्य की कोटि में रखे जा सकते हैं। आधुनिक गद्य साहित्य में यह एक विशिष्ट विधा है। कुछ विद्वानों ने गद्य काव्य को भावात्मक निबन्ध की कोटि में रखा है। किन्तु यदि दोनों साहित्य रूपों पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो उनका विधागत अन्तर स्पष्ट हो जाता है। गद्य काव्य में एक केन्द्रीय भावना होती है—उसकी भाषा का प्रभाव काव्यमय होना है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, बैजनाथ पंवार और चन्द्रसिंह के गद्य गीत इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। कन्हैयालाल सेठिया के कुछ

गद्य गीत देखने में आते हैं। राजस्थानी के आधुनिक गद्य में यह विधा अभी सम्पन्न नहीं है। गद्य गीतों का अब युग नहीं रहा किन्तु भाव साहित्य की अभिवृद्धि में गद्य काव्य का योगदान अवश्य रहता है।

रिपोर्ताज अपेक्षाकृत गद्य की एक नवीनतम विधा है। पाश्चात्य प्रभाव से हिन्दी में इसका प्रचार हुआ है। अखबारी समाचार रिपोर्टों से इसका निकट सम्बन्ध होता है। रिपोर्ताज घटनाओं का शुष्क वर्णन मात्र नहीं होते, लेखक के हृदय की भावुकता उनमें मुखरित होती है। राजस्थानी में साहित्यिक पत्रिकायें अवश्य निकलती रही हैं। शोध, समीक्षा और कलात्मक साहित्य के प्रकाशन तक ही वे सीमित रही हैं। राजनीति और समाज सुधार के उद्देश्यों को लेकर जो पत्र-पत्रिकायें राजस्थानी भाषा में आईं, उनमें भी रिपोर्ताज नहीं मिलते। अन्ततोगत्वा यही कहना चाहिये कि गद्य की इस विधा की राजस्थानी में पूर्ण उपेक्षा हुई है।

डायरी विधा के दर्शन राजस्थानी के मध्यकालीन गद्य में होते हैं। रोजनामचा, याददाश्त आदि डायरी के रूप ही हैं। राजाओं के दैनिक जीवन में सम्बन्धित घटनाओं व उनकी दिनचर्या आदि का अंकन इनमें होता था। इनमें तत्कालीन संस्कृति, धर्म, शासन और राजनीति की भी अभिव्यक्ति हुई है। संक्षेप में जहां ये साहित्यिक विधा की एक सम्पन्न अवस्था के द्योतक हैं वहां ऐतिहासिक अध्ययन में भी अत्यन्त सहायक हैं। महाराजा मानसिंह (जोधपुर) के रोजनामचों का उल्लेख स्वयं कर्नल टाड ने किया है। टाड के इतिहास-लेखन के कार्य में इन रोजनामचों से बहुत सहायता मिली है।

आधुनिक काल में डायरी विधा का रूप राजस्थानी गद्य में लुप्तप्राय-सा है।

अनुवाद की परम्परा राजस्थानी में अवश्य बहुत प्राचीन है। जैन साहित्य में और चारण साहित्य में—दोनों में मौलिक कृतियों के साथ अनुवाद कार्य भी हुआ। धर्म शास्त्र, पुराण, ज्योतिष, वैद्यक आदि के संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद राजस्थानी में मिलता है। फारसी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी राजस्थानी में अनुदित हुये। पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि के राजस्थानी अनुवाद भी मिलते हैं।

आधुनिक काल में मुख्य रूप से काव्य ग्रन्थों का अनुवाद हो रहा है। इधर कुछ प्रयत्न गद्य के क्षेत्र में भी हुये हैं। रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत ने विदेशी उपन्यासों को राजस्थानी में अनुदित किया है। श्री दीनदयाल ओझा ने विनोबाजी की दो पुस्तकों—'पावन प्रसंग, गांव सुखी हम सुखी' का राजस्थानी में अनुवाद किया है। श्री रावतनाथ परिकर ने गीतांजलि का अनुवाद

कृतियाँ प्राचीन और मध्य कालीन गद्य में उपलब्ध होती है। वैज्ञानिक साहित्य से यहाँ मेरा अभिप्राय आधुनिक विज्ञान और उसकी प्रगति के ज्ञान से है। व्यावसायिक विज्ञान भी इसमें सम्मिलित कर लेना चाहिए। आवागमन के आधुनिक साधन, संचार वाहन के साधन, उद्योग, सामान्य विज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने वाली शायद ही कोई कृति राजस्थानी मे आज तक लिखी गई है। वैज्ञानिक साहित्य रचना की यह उपेक्षा अवश्य ही हम सबके लिए चिन्तनीय है।

समालोचना साहित्य का भी उल्लेख करना मैं यहां प्रासगिक समझूंगा। मध्य कालीन राजस्थानी गद्य मे टीका लिखने की परम्परा रही है किन्तु समालोचना आधुनिक अर्थ मे एक विस्तृत शास्त्र है। टीका उसका एक रूप माना जा सकता है। आधुनिक काल मे हमारे प्राचीन और मध्य कालीन गद्य और पद्य साहित्य की पर्याप्त खोज हुई है और उन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये है। लोकसाहित्य का भी तात्विक अध्ययन हुआ है। सूर्यकरण पारीक, डा. रामसिंह, नरोत्तम स्वामी, अगरचंद नाहटा, कन्हैयालाल सहल, मोतीलाल मेनारिया, सीताराम लालस, सौभाग्यसिंह शेखावत, डा. मनोहर शर्मा, कोमल कोठारी, विजयदान देथा, नारायणसिंह भाटी, रावत सारस्वत प्रभृति विद्वानो ने इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। किन्तु यह सारा कार्य हिन्दी मे हुआ है। परम्परावादी दृष्टिकोण के स्थान पर समालोचना की नवीनतम दृष्टि का समावेश आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और प्रभाववादी आलोचना के मानदण्डों पर हमें राजस्थानी साहित्य का मूल्यांकन कर उसकी विशिष्टताओं का उद्घाटन करना चाहिए। पिछले एक-दो दशकों मे राजस्थानी में समीक्षा और आलोचना के क्षेत्र मे काफी कार्य हुआ है। पुस्तक समीक्षाओं के साथ साहित्यिक प्रवृत्तियो और विधाओं की एक समीक्षात्मक-आलोचनात्मक दृष्टि विकसित हो रही है। राजस्थानी भाषा समीक्षा और आलोचना का मुहावरा भी अर्जित कर रही है।

विद्वानों की मान्यता है कि जो भाषा और साहित्य अपनी प्राचीन परम्पराओ को अंक मे समेटे हुये अधुनातन युग-चेतना के साथ अग्रसर होते है, वे अमर रहते है। प्राचीन साहित्य के आकलन और प्रकाशन का कार्य हमारे यहा काफी हुआ है—होना भी चाहिये किन्तु साहित्य की नई विधाओ मे मौलिक सृजन की धारायें भी प्रवाहित रहनी चाहिये। ऊपर के विवेचन से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि जिस मात्रा, गुणात्मकता और गति के साथ यह कार्य होना चाहिये वह राजस्थानी गद्य मे आज भी नहीं हो रहा है।

कर राजस्थानी के अनुवाद साहित्य को अभिवृद्ध किया है। टैगोर की कुछ कृतियो के अनुवाद भी हुये है। और भी सुधी लेखक अनुवाद कार्य कर रहे है। अनुवाद विचारो के आदान-प्रदान का अच्छा माध्यम है। राजस्थानी मे मौलिक सृजन के साथ अनुवाद कार्य भी द्रुतता के साथ होना चाहिये।

बाल साहित्य लिखने की परम्परा राजस्थानी मे बहुत प्राचीन है। बाल कथायें और गीत भी अगणित मिलते है। बाल साहित्य लेखन को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन बाल साहित्य को परखना उचित नहीं। प्रश्न आधुनिक काल मे राजस्थानी बाल साहित्य का है। रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत, भगवतुदत्त गोस्वामी, श्रीमती कृष्णा मेनारिया आदि ने राजस्थानी मे बालको के लिए कहानिया लिखी है। उनमे से कुछ कहानिया मौलिक है और कुछ लोककथाओ का पुनर्लेखन मात्र है। इधर विजयदान देथा और कोमल कोठारी ने बाल साहित्य लेखन के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने बाता री फुलवारी शीर्षक से बाल कथाओ के तीन भाग रूपायन सस्थान से प्रकाशित किये हैं। एकाकी नाटक, लघु उपन्यास और सूचनात्मक साहित्य की कृतिया बालको के लिए राजस्थानी मे देखने को नही मिलती। बाल साहित्य समाज की एक बहुत बडी आवश्यकता है। और जब हम राजस्थानी को शिक्षा का माध्यम बनाने की बात करते है और इसके शिक्षण को अनिवार्य करने की सोचते हैं तो हमे बाल साहित्य के निर्माण की भी गंभीरता से चिन्ता करनी चाहिये।

इस प्रसंग में एक बात और कहना चाहूंगा। बाल साहित्य सृजन बाल मनोविज्ञान से सम्बद्ध है। और यह तकनीक आज काफी आगे बढ गया है। अतः बाल साहित्य लिखने वालो को आधुनिकतम चिन्तन के अनुसरण मे साहित्य का सर्जन करना चाहिए। बाल साहित्य के साथ उसके मुद्रण, प्रकाशन, कागज, चित्रांकन आदि के विषय भी विचारणीय है। बालक राजस्थानी में रुचि लें—इसके साहित्य को चाव से पढ़ें, इसके लिये जरूरी है कि उनके हाथों मे सरस, सुन्दर और रोचक साहित्य दिया जाय।

यात्रा साहित्य का क्षेत्र भी आधुनिक राजस्थानी गद्य मे अछूता-सा ही पड़ा है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत के कुछ निबन्ध 'मेरी जापान यात्रा' अवश्य प्रकाशित हुए है। उन्होंने अपनी ताशकन्द और मास्को यात्रा पर भी कुछ निबन्ध लिखे है। इनके अतिरिक्त मैं समझता हूं राजस्थानी में यात्रा साहित्य की अभी तक कोई कृति शायद ही प्रकाशित हुई हो।

वैज्ञानिक साहित्य की परम्परा अवश्य प्राचीन है। वैद्यक, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, दर्शन, वास्तु विज्ञान, कृषि विज्ञान आदि पर मौलिक और अनुदित

कृतियाँ प्राचीन और मध्य कालीन गद्य में उपलब्ध होती है। वैज्ञानिक साहित्य से यहां मेरा अभिप्राय आधुनिक विज्ञान और उसकी प्रगति के ज्ञान से है। व्यावसायिक विज्ञान भी इसमें सम्मिलित कर लेना चाहिए। आवागमन के आधुनिक साधन, संचार वाहन के साधन, उद्योग, सामान्य विज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने वाली शायद ही कोई कृति राजस्थानी में आज तक लिखी गई है। वैज्ञानिक साहित्य रचना की यह उपेक्षा अवश्य ही हम सबके लिए चिन्तनीय है।

समालोचना साहित्य का भी उल्लेख करना मैं यहां प्रासंगिक समझूंगा। मध्य कालीन राजस्थानी गद्य में टीका लिखने की परम्परा रही है किन्तु समालोचना आधुनिक अर्थ में एक विस्तृत शास्त्र है। टीका उसका एक रूप माना जा सकता है। आधुनिक काल में हमारे प्राचीन और मध्य कालीन गद्य और पद्य साहित्य की पर्याप्त खोज हुई है और उन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये है। लोकसाहित्य का भी तात्विक अध्ययन हुआ है। सूर्यकरण पारीक, डा. रामसिंह, नरोत्तम स्वामी, अगरचंद नाहटा, कन्हैयालाल सहल, मोतीलाल मेनारिया, सीताराम लालस, सौभाग्यसिंह शेखावत, डा. मनोहर शर्मा, कोमल कोठारी, विजयदान देथा, नारायणसिंह भाटी, रावत सारस्वत प्रभृति विद्वानो ने इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। किन्तु यह सारा कार्य हिन्दी में हुआ है। परम्परावादी दृष्टिकोण के स्थान पर समालोचना की नवीनतम दृष्टि का समावेश आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और प्रभाववादी आलोचना के मानदण्डों पर हमें राजस्थानी साहित्य का मूल्यांकन कर उसकी विशिष्टताओं का उद्घाटन करना चाहिए। पिछले एक-दो दशकों में राजस्थानी में समीक्षा और आलोचना के क्षेत्र में काफी कार्य हुआ है। पुस्तक समीक्षाओं के साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों और विधाओं की एक समीक्षात्मक-आलोचनात्मक दृष्टि विकसित हो रही है। राजस्थानी भाषा समीक्षा और आलोचना का मुहावरा भी अर्जित कर रही है।

विद्वानों की मान्यता है कि जो भाषा और साहित्य अपनी प्राचीन परम्पराओं को अंक में समेटे हुये अधुनातन युग-चेतना के साथ अग्रसर होते है, वे अमर रहते हैं। प्राचीन साहित्य के आकलन और प्रकाशन का कार्य हमारे यहां काफी हुआ है—होना भी चाहिये किन्तु साहित्य की नई विधाओं में मौलिक सृजन की धारायें भी प्रवाहित रहनी चाहिये। ऊपर के विवेचन से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि जिस मात्रा, गुणात्मकता और गति के साथ यह कार्य होना चाहिये वह राजस्थानी गद्य मे आज भी नहीं हो रहा है।

राजस्थानी का बात और ख्यात साहित्य

'राजस्थानी का गद्य साहित्य अधिक समृद्ध नहीं है'—यह एक भ्रान्त धारणा आज भी कुछ व्यक्तियों में विद्यमान है। आधुनिक राजस्थानी गद्य के विषय में तो यह बात सही हो सकती है किन्तु प्राचीन राजस्थानी गद्य विधाओं की विविधता-शैली-शिल्प, भाषा-सौष्ठव और विषय-वैविध्य इन सभी दृष्टियों से काफी सम्पन्न है। पिछले दशकों में राजस्थानी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में जो शोध कार्य हुआ है उसने यह प्रमाणित कर दिया कि राजस्थानी गद्य साहित्य भी पद्य साहित्य की भांति संवृद्ध है। पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दि तक का समय राजस्थानी भाषा और साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसे राजस्थानी का स्वर्णकाल भी कहा जा सकता है। इस कालखण्ड में राजस्थानी में महाकाव्यों की रचना हुई तो उच्चकोटि की गद्य कृतियों का निर्माण भी हुआ। पद्य और गद्य दोनों की धारायें इस काल में प्रखर रूप से गतिमान रही। राजस्थानी का साहित्य-सरोवर अद्वितीय मनोरमता से मण्डित हुआ।

राजस्थानी गद्य की यों तो कई मौलिक विधायें है किन्तु वचनिका, दवावैत, बात और ख्यात इनमें मुख्य हैं। इन विधाओं की प्रसिद्ध कृतियाँ इसी कालखण्ड में लिखी गई। गद्य साहित्य की दृष्टि से इस काल को बातों और ख्यातों के काल की संज्ञा दी जा सकती है। राजस्थानी बात साहित्य अपार है। अभी इस साहित्य की पूरी खोज भी कहाँ हो पाई है? इसी प्रकार ख्यात साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में अभी ठिकानेदारों, जागीरदारों और राजाओं के (अब सभी भूतपूर्व) संग्रहालयों में अज्ञात रूप में पड़ा हुआ है। अभी कुछ ही ख्यातें प्रकाश में आ पाई हैं जिनमें मुहता नैणसी री ख्यात, दयाळदास री ख्यात और बाकीदास की ख्यात प्रमुख हैं।

'ख्यात' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है प्रसिद्ध, मशहूर या जानकारी। किन्तु राजस्थानी साहित्य में इसका अर्थ इतिहास से लगाया गया है। अतः 'ख्यात' एक अर्थ में इतिहास लेखन की परम्परा थी। उसी परम्परा से प्रेरित हो राजस्थान के राजा-महाराजा ख्यातें लिखाने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'ख्यात' मूलरूप में इतिहास है। किन्तु इतिहास के साथ यह साहित्य ग्रन्थ भी है—यह इनकी विशेषता है। ख्यातों में जहां युगीन संस्कृति, धर्म, समाज, रीतिरिवाजों का चित्रण मिलता है, वहां भाषा और साहित्य के सौष्ठव के

ान भी होने हैं। इस दृष्टि से ख्यातें राजस्थानी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान ाती हैं। तत्कालीन इतिहास की प्रामाणिक सामग्री जितनी इन ख्यातों में लती है, उतनी अन्य किसी सूत्र से नहीं मिलती। संस्कृति, समाज, भाषा र साहित्य का जो जीवन्त रूप इन ख्यातों में मिलता है, वह भी अत्यन्त माणिक है। इसका कारण यह है कि ये ख्यातकार अपने समय के साक्षी । लोक से ये इतने ही जुड़े हुये थे जितने अपने आश्रयदाता नरेश से। यही रण है कि ये ख्यातें राजस्थानी इतिहास और संस्कृति के प्रामाणिक दस्ता- बन गईं।

ख्यात के कई भेद-उपभेद मिलते हैं—इतिहासपरक ख्यात, वार्तापरक ात, व्यक्तिपरक ख्यात और स्फुट ख्यात। इतिहासपरक ख्यात में बातों संग्रह होता है अथवा किसी घटना का सम्पूर्ण वर्णन होता है। मुहता ासी की ख्यात वार्तापरक ख्यात का एक जीता-जागता उदाहरण है। क्तिपरक ख्यात में किसी एक राजा अथवा विशेष व्यक्ति की प्रशंसा होती स्फुट ख्यातों में केवलमात्र टिप्पणियां होती हैं जिनमें न तो कोई क्रम होता न कोई विवरण। बाँकीदास की ख्यात इसी श्रेणी में आती है।

अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'ख्यात' और 'वात' राजस्थानी गद्य हित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं और इनमें राजस्थानी गद्य की गरिमा श्रीमण्डित ई है।

'ख्यात' के स्वरूप को विस्तार से समझने के लिये यहां 'दयालदास री ात' की विस्तार से समीक्षा की जा रही है। दयालदास सिंढायच इस ख्यात रचयिता हैं जो चारण जाति के थे। इस ख्यात में बीकानेर राज्य के स्थापक राव बीकाजी से लेकर महाराजा अनूपसिंह तक के काल का बीका- र राज्य का इतिहास अंकित है। इन नरेशों की जन्मपत्रियां, उनके जन्म र मृत्यु की तिथियां, उनके राजपरिवारों का वर्णन इत्यादि तो इस ख्यात हैं ही, पिछली चार शताब्दियों के राजनैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तिहास का आलेख भी विस्तार से इस ख्यात में उपलब्ध है। अनूप संस्कृत ाइब्रेरी, बीकानेर में इस ख्यात की एकाधिक हस्तलिखित प्रतियाँ विद्यमान । राजस्थानी इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् स्वर्गीय डा. दशरथ शर्मा ने इन स्तलिखित प्रतियों को आधार बनाकर इस ख्यात का सर्वप्रथम सम्पादन किया । यह अप्रकाशित है। ख्यातकार दयालदास सिंढायच स्वयं राजस्थानी तिहास के मर्मज्ञ विद्वान थे। वे बीकानेर राज्य के बड़े कारखाना दफ्तरी काॅर्ड दफ्तर में प्रतिदिन स्वयं पधारते थे, पुरानी बहियों और वंशावलियों

का अवलोकन करते थे। उस सम्पूर्ण प्रामाणिक सामग्री के आधार पर ही इस ख्यात की रचना दयालदासजी ने की थी।

इस प्रकाशित ख्यात की भूमिका में डा. दशरथ शर्मा ने जहां दयालदासजी के इतिहास ज्ञान, पाण्डित्य, और परिश्रमशीलता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, वहीं यह भी उल्लेख किया है कि इस ख्यात में बीकानेर नरेशों की अतिरंजित प्रशंसा हुई है। साथ ही, उन्होंने यह भी टिप्पणी की है कि इतिहास की अनेक घटनाओं को तोड़ा-मरोड़ा गया है। चारण साहित्यकारों की यह परम्परा रही है कि वे अपने आश्रयदाताओं की, चाहे वे निकम्मे ही रहे हों, प्रशंसा करते ही थे। किन्तु चारण साहित्यकार निर्भीक, शूरवीर और स्वाभिमानी भी होते थे। दयालदासजी चारण थे किन्तु चारण साहित्यकार के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। डा. शर्मा ने उनके स्वाभिमान और निर्भीकता की भी प्रशंसा की है। बीकानेर नरेशों ने जो-जो युद्ध लड़े उनका वर्णन इस ख्यात में मिलता है। मुगलों, मराठों व अन्य राजवंशों से बीकानेर नरेशों के क्या और कैसे सम्बन्ध थे, इसका विस्तार से चित्रण इस ख्यात में हुआ है। यदि राजस्थान, साथ ही भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास की किसी को प्रामाणिक जानकारी चाहिये तो उसे इस ख्यात को अवश्य पढ़ना चाहिये। इस काल में कौन-कौन से लोक देवी-देवता हुये, सामाजिक रीति-रिवाज क्या थे, कौन-कौन से सन्त-महात्मा हुये, यह सब जानकारी इस ख्यात में उपलब्ध है। करणी माता, बीकानेर नरेशों की कुल देवी रही है। इस देवी का महात्म्य इस ख्यात में पढ़ने को मिलता है।

यों तो यह सम्पूर्ण ख्यात राजस्थानी गद्य में लिखी गई है किन्तु इसमें राजस्थानी छन्दों का प्रयोग भी स्थल-स्थल पर हुआ है। वार्ता और वचनिका जो राजस्थानी की प्रसिद्ध गद्य विधायें है, का प्रयोग भी इस ख्यात में मिलता है। मुगल बादशाहों के सरकारी फरमानों की भाषा-शैली के दर्शन भी इस ख्यात में होते हैं। इस ख्यात का रचना-स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो जाये इसलिये पद्य और गद्य के कतिपय उदाहरण यहां नीचे दिये जा रहे हैं। बीकानेर नरेश रामसिंह ने सिरोही पर जो आक्रमण किया था, ख्यातकार ने वचनिका शैली में उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"पीछैं उठैसूं मोकलकर बीकानेर पधारिया। अरु त्याग वाटणनूं बदावत कमचद सांगावत वैद ठाकुरसी गया। सु उठै बड़ी जस लियो। पीछै राव सुरताण जगमल उदैसिह राव दातं गंु रो जगमाळ दईसिहोत वगैरै फौज पांच हजार सूं सिरोही आया। तद सुरताण जाणियो फौज धणीर जाण जाळोर मिळक बिहारी नूं कहायो—मदत दो। तठै बिहारी कयो—'जमी देवो तो मदत करूं'।'

इसी प्रकार इसी ख्यात के एक डिंगल गीत का उदाहरण भी द्रष्टव्य है। बीकानेर नरेश श्री करणसिंहजी ने एक बार नागोर पर आक्रमण किया था। यह गीत उसी प्रसंग का है—

पड़ियाळथ मेर सझे पिंड सग्रह
हमल हिळोळे आप हथ
किसन-किसन जिम रसन काढ़िया
महण मंडोवर खड मथ
साझ-मास सुर-असुर समेला
अवध गिर साहे अडर
रिण ततखरा लिया रामावत
धुणे सादर अमर धर ॥

एक बड़ी रोचक घटना है। एक बार राजा श्री रामसिंह ने अकबर के समक्ष हाथी को तलवार के घाट उतार दिया था। उनकी इस शूरवीरता पर अकबर स्वयं बहुत ही प्रसन्न हुआ। राजस्थानी निसाणी छन्द में इस प्रसंग का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

मोळी में तीसे समै
यद चैत बताया
अकबर साह जलालदीन
अन सेन चलाया
साझण घर गुजरात री
दळ पच्छम आया।
किया मुदै कमधंसकू
दे फरब सुवाया ॥

महाराजा श्री अनूपसिंहजी ने दक्षिण को जीता था। उस प्रसंग का एक कवित्त भी इस 'ख्यात' में है। काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह कवित्त बहुत ही सुन्दर है—

रूप को अनूप रस, रीत को अनूप राज,
नीत को अनूप सोई वधै ठोर-ठोर है।
दान को अनूप सूर, ग्यान को अनूप कवि,
ध्यान को अनूप, कमधज कुल दौर है।
कामना को पूरन, अनूप जैसो देवतरू,
फैंद पटतर को, चहर चितचौर है।
ध्यानी नवदीप में, महीप करणेसजू को।

राजा श्री अनूप सो, अनूप कौन और है ॥

और अन्त मे दो राजस्थानी दोहो का सौन्दर्य भी आस्वादयोग्य है जो इसी ख्यात मे है—

लाल करहड़ लूंबिया खागां वाही खेर।
कह पदमा कुण वाळतो वीको दूनो वेर॥
पदमा कवर कर भरा तो हाथा बलिहार।
पतमांहो तसलीम मैं तूं वाहे तरवार॥

राजस्थानी गद्य-पद्य के उपरोक्त उदाहरण यह सिद्ध करते है कि दयालदासजी की यह ख्यात केवल मात्र इतिहास ग्रन्थ नही है—वह राजस्थानी गद्य-साहित्य की भी एक मूल्यवान कृति है। राजस्थानी गद्य भाषा का सौष्ठव इस ख्यात मे देखने योग्य है। और प्रकारान्तर से यह राजस्थानी की समस्त ख्यातो के विषय मे कहा जा सकता है कि वे इतिहास के साथ-साथ गद्य-साहित्य की भी मानक कृतिया है।

राजस्थान के सन्तसम्प्रदाय—

१-जसनाथी सम्प्रदाय

डिंगल और ब्रज भाषा के नाथभक्त सन्त कवि जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह का एक लोक प्रचलित पद है—

हे जी म्हांनें मरुधर देस सुहावे हे लोय,
इण देस में आनन्द घणो।
सन्त अनन्त इण देस में आया
हे जी अठै आय पाछा नहीं जावे हे लोय।
मरुधर देस सिरे सगलों सूं
हे जी श्रो तो भाग जिको ने पावे हे लोय।

इस पद में 'मरुधर देश' का जहाँ ऐतिहासिक और भौगोलिक अर्थ है, वहाँ सन्तों की रहस्यमयी वाणी में एक प्रतीकात्मक अर्थ भी है और वह है निर्वाण-पद। प्रत्येक सन्त और योगी का यही गन्तव्य है। यहाँ पहुँचने पर वह वापिस नहीं लौटता। 'मरुधर देश' के इस प्रतीकार्थ को नहीं लेकर यदि इसका केवल ऐतिहासिक अर्थ ही लें तो यह सिद्ध हो जाता है कि मरुधर देश अर्थात् मारवाड़ जिसे आज राजस्थान के विस्तृत अर्थ में लिया जाता है, अनेक सन्तों की लीलाभूमि रहा है। शायद इसीलिये गुरुदेव टैगोर ने कहा था—'भक्ति रस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी-न-किसी कोटि का पाया जाता है परन्तु राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य-निर्माण किया है उसकी जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता।' मीरा, दादू, हरिदासजी महाराज, सुन्दरदास आदि विश्व-प्रसिद्ध भक्त और सन्त कवियों ने जहाँ राजस्थान की भूमि को तीर्थ बनाया है वहाँ राजस्थानी भाषा को भी अपनी अमृतवाणी से अभिसिंचित किया है। दादू पन्थ, रामस्नेही, चरणदासी, निरजनी आदि कुछ ऐसे उत्तरी भारत के प्रसिद्ध सन्तसम्प्रदाय हैं जो इसी राजस्थान की तीर्थभूमि में अवतरित हुये और फिर समूचे भारतवर्ष में प्रचलित हुये। सन्त-सम्प्रदाय की इस पावन और अति दीर्घ परम्परा में जसनाथी सम्प्रदाय के अवतरण का श्रेय भी राजस्थान को ही प्राप्त हुआ है।

जसनाथी सम्प्रदाय का एक नाम सिद्ध सम्प्रदाय भी है। ऐसी मान्यता

है कि इसके प्रवर्त्तक जसनाथी को नाथ पन्थ के आदि प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ ने ही 'मत्स्य मन्द्र' का गुरु मन्त्र मिला था। इस प्रकार गोरखनाथ से सम्बद्ध होने के कारण ही इस सम्प्रदाय में दीक्षित और इसके दर्शन और नियमों का आचरण करने वाले अनुयायियों का एक वर्ग आज भी सिद्ध कहलाता है। जसनाथजी का जन्म बीकानेर राज्य के एक गांव कतरियासार में एक सम्पन्न जाट श्री हमीरजी के घर संवत् 1539 कार्तिक शुक्ला एकादशी को हुआ था। सभी देव-पुरुषों की भाँति इनके जन्म को लेकर भी एक पौराणिक जनश्रुति इस सम्प्रदाय के लोगों में प्रचलित है। इस जनश्रुति के अनुसार कहा जाता है कि हमीरजी शक्ति के उपासक थे। पिच्चासी वर्ष की अवस्था तक उन्हें कोई सन्तान प्राप्त नहीं हुई। तब दम्पत्ति ने जंगल में जाकर घोर तपस्या की, फलस्वरूप एक महात्मा के आशीर्वचन से वहीं तालाब के किनारे एक कान्तिमय नवजात शिशु इन्हें प्राप्त हुआ। इस प्रकार हमीरजी इस दिव्य-विभूति के पार्थिव पोषक मात्र थे। इनके बचपन का नाम जसवन्त था। एक बार ये अपने पिता की खोई हुई ऊँटनियों को जंगल में ढूँढ रहे थे तभी, कहते हैं कि गुरु गोरख इन्हें मिले। गुरु गोरख से प्रेरित होकर उसी क्षण ये तपस्या में बैठ गये। जिस स्थान पर गोरख ने जसनाथजी को गुरुमन्त्र दिया था वह स्थान 'भाग थली' कहलाता है। यह घटना वि. स. 1551 आश्विन शुक्ला 7 को बताई जाती है। तब जसनाथजी की आयु केवल 12 वर्ष की थी। एकासन पर समाधिस्थ हो जसनाथजी ने 12 वर्ष तक अविकल तपस्या की। सिद्धि प्राप्ति के पश्चात् ये 'सिद्ध जसनाथ' कहलाने लगे। जसनाथजी की यह साधना भूमि 'गोरख मालिया' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के 'यशोनाथ पुराण' नामक ग्रन्थ में इन घटनाओं का उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिये एक दोहा देखिये—

संवत् पनरै इकावनै, आसोजी सुद पाय।
वा दिन गोरखनाथ सूं, जसवंत जोग पठाय॥

सिद्धि के पश्चात् इन्होंने कुछ चमत्कार भी दिखाये। अब इनके तपस्वी स्वरूप और सिद्धियों से आकृष्ट होकर दूर-दूर से लोग आने लगे। ये उन्हें आत्म कल्याण का मार्ग बताने लगे। जब यह केवल दस वर्ष के ही थे तब इनकी सगाई काड़लदे नामक एक लड़की से हो गई थी। यह जोगी बन गये थे इसलिये विवाह नहीं हो सका। काड़लदे जीवन पर्यन्त इन्हें अपना पुरुष ही समझती रही। केवल 24 वर्ष की अल्पायु में वि. स. 1563, आश्विन शुक्ला 7 को ही इस सिद्ध पुरुष ने निर्वाण ले लिया। काड़लदे भी इनकी समाधि के निकट ही उसी दिन समाधिस्थ हो गई।

जसनाथजी की दो रचनायें 'सिभूधड़ा तथा कोडॉ' प्रसिद्ध है। इनकी कुछ स्फुट वाणियां भी मिलती है। ये विशुद्ध राजस्थानी मे है। जसनाथी भक्त और सन्त इन रचनाओ को अत्यन्त पवित्र मानते है। एक मान्यता यह भी है कि ये सभी रचनायें जो जसनाथजी की मानी जाती है, जसनाथजी के शिष्यों द्वारा रचित है। यह विवाद का विषय है। निश्चित रूप मे कुछ भी नही कहा जा सकता।

सिद्ध जसनाथजी अपनी 24 वर्ष की अल्पायु मे भी बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। अनेक लोगों ने इनसे उपदेश ग्रहण कर आत्म कल्याण का मार्ग प्राप्त किया। हारोजी, हांसोजी, रुस्तमजी आदि इनके प्रसिद्ध शिष्य-प्रशिष्य हो गये है। रुस्तमजी तो अपने साधना-चमत्कारो के कारण बहुत ही लोक-प्रिय हुये। योगी के साथ वे एक सिद्ध कवि भी थे। फुटकर वाणियो के साथ रुस्तमजी के दो प्रबन्धकाव्य 'शिव-ब्यावलो और क्रिसन-ब्यावलो' भी मिलते है। इस सम्प्रदाय मे एक और प्रसिद्ध सिद्ध पुरुष हुये है और वे है—लालनाथजी। लालनाथजी द्वारा रचित छः रचनायें हरिरस, वरणविदा, हरलीला, निकलंक परवाण, जीव समझोतरी और फुटकर वाणी सग्रह आज भी उपलब्ध है और सन्त साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ मानी जाती है। ये रचनायें भी विशुद्ध राजस्थानी मे है।

मैं पहले कह आया हू कि जसनाथी सम्प्रदाय का मूल स्रोत नाथ पन्थ है। यह बात जसनाथी सम्प्रदाय के साहित्य से भी सिद्ध हो जाती है। जसनाथजी के आविर्भाव के समय न केवल राजस्थान अपितु सम्पूर्ण उत्तर भारत में नाथ पन्थ का प्राबल्य था। इस काल मे जिन अन्य सन्त-सम्प्रदायो का प्रवर्त्तन हुआ उन पर भी नाथ पन्थ का प्रभाव स्पष्ट है। जसनाथी सम्प्रदाय नाथ पन्थ के प्रभाव को लेकर भी एक पृथक् सन्त-सम्प्रदाय है। जसनाथी सम्प्रदाय मे 'जोग' शब्द को इस प्रकार समझाया गया है—

जस सत रैणा कूड न कैणां, जोग तणी सहनाणी
मन कर लेखण तन कर पोथी, हर गुण लिखो पिराणी
अभी दबं मुख इमरित बोली, हालो गुर फरमाणी

'सत्य के अनुसार समय के साथ रहना चाहिये और किसी के साथ मिथ्याचरण नही करना चाहिये। हे प्राणी! तुम अपने शरीररूपी पुस्तक पर मनरूपी लेखनी से भगवान् के गुण लिखते चलो। अमृत जैसे शब्द बोलो और गुरु का उपदेश मानो।'

जसनाथी सन्त के रूप को बताते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

हम दरवेस निरंजन जोगी, जुग-जुगरा रमवानी
जासूं जसा तासूं तैसा, फोग न बोंता वाणी

हम तो दरवेश निरंजन जोगी हैं और इसी रूप में बराबर भ्रमण करते आये हैं, जो जैसा है उससे वैसा ही व्यवहार करते हैं। उसी के अनुसार उससे बातचीत करते हैं। सिद्ध रुस्तमनाथजी ने अपनी कृति 'जीव समझोतरी' में जसनाथी सम्प्रदाय की दार्शनिक भूमि को स्पष्ट किया है। अन्य सन्त सम्प्रदायों की भांति जसनाथी सम्प्रदाय की मान्यता भी यही है कि सभी चर-अचर जगत में एक ही ब्रह्म व्याप्त है। केवल व्यवहार-भेद के कारण द्वैत-भाव उत्पन्न होता है, यथा—

ब्रह्म सकल में एक, चर-अचर में जोत।
कर्मा सेती ईश्वरा, दुबिधया सेती होत।

जसनाथी सम्प्रदाय में निर्गुण को महत्व दिया है किन्तु सगुण की उपेक्षा भी यह सम्प्रदाय नहीं करता। जसनाथजी को इस सम्प्रदाय के साहित्य में कहीं-कहीं पर कृष्ण का ही अवतार मान लिया गया है। निर्गुण और सगुण में समन्वयकारी दृष्टि रखते हुये इसीलिये लालनाथने एक स्थान पर कहा है—

निरगुण सेती निसतिरया, सुरगुण सूं सीधा
दुहू कोरा रह गया, कोइ बिरला बींधा

'निर्गुण का आधार लेकर उद्धार हो गया और सगुण की आराधना अपनाने पर पवित्रता आ गई तथा इन दोनों से रहित व्यक्ति मिथ्याचारी हो गये। बिरले ही सुधर सके।' देह की नश्वरता के सम्बन्ध में एक छन्द देखिये—

काचो काया गल गल जासी
कूं कूं वरणी देहा
हाडा ऊपर पून हुळैली
माटी में माटी मिळ जासी
भसम उड़ हुय खेहा

'तुम्हारा कुंकुम के रंग का शरीर एक दिन गल जायेगा। तुम्हारी हड्डियों पर हवा चलेगी। एक दिन मिट्टी मिट्टी में मिल जायेगी और शरीर राख होकर हवा में उड जायेगा'।

'प्रेम' की महत्ता सभी सन्त सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। जसनाथी सम्प्रदाय में भी प्रेम को महत् तत्व कहा गया है। कठिन साधना के द्वारा, सदेहों की शिला को तोडकर ही इस रत्न को प्राप्ति की जा सकती है—

गिगन मडल में प्रेम सुन, जहाँ हीरा री खान।
विरला पूँचे पारखू, सिल सांसै की भान॥

नाम-स्मरण के महात्म्य को जसनाथी सिद्ध भी मान्यता देते हैं—

अलख अगोचर नाँव है, कर लीजै मन स्याही।
दिन दस पीछे नीसरया, वापरसी मुँगाई ।।

अलक्ष्य और अमूल्य नाम को हमे दृढ निश्चय के साथ अपना लेना चाहिये। समय निकल जाने पर फिर हानि उठानी पड़ेगी।

इस सम्प्रदाय मे योगी की साधना के केवल चार अंग बताये गये है। जंत अर्थात् संयत जीवन, रैंणी अर्थात् सद्व्यवहार, गुरु ज्ञान अर्थात सद्गुरु के प्रति निष्ठा और विचार अर्थात् विवेकपूर्ण आदर्श। सृष्टि की रचना का मूल यह सम्प्रदाय ओंकार को मानती है। प्राणायाम, हठयोग, सुरति-निरति साधना को यह सम्प्रदाय भी महत्व देती है।

इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए प्रवर्त्तक जसनाथजी ने 36 नियमों की आचरण-संहिता बनाई थी। दीक्षित होने के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को इन 36 नियमों के अनुपालन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। उक्त प्रतिज्ञा करने के पश्चात् वह व्यक्ति और उसकी सन्तान जसनाथी कहलाते है। जसनाथी सम्प्रदाय के वे सन्त जो जीवन और संसार से विरक्ति ले लेते हैं 'परमहंस' कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय मे भगवे वस्त्र पहनने की प्रथा भी है। जसनाथी गृहस्थ भी होते हैं। कुछ जसनाथी गले मे काली ऊन का धागा बाँधते है। इन गृहस्थियों मे विवाह संस्कार गोरख छन्दो के द्वारा सम्पन्न होता है। गंगा-स्नान और मोर पंख को ये लोग बहुत पवित्र मानते है। इनका अन्तिम संस्कार भू-गर्भ समाधि द्वारा होता है। यों अन्य जातियो के लोग भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं किन्तु मूल रूप से जाट ही इसे अधिक मानते हैं।

जसनाथी सम्प्रदाय समूचे भारत मे अग्नि-नृत्य के चमत्कार के लिये प्रसिद्ध है। सम्प्रदाय के विशेष पर्वो और उत्सवो के समय आयोजित रात्रि जागरणों मे अग्नि नृत्य करने की प्रथा आज भी अवशेष है। नृत्य के समय निर्गुण पद गाये जाते हैं, तीव्र ध्वनि और ताल मे ढोलक बजती है और नर्तक आत्मविभोर होकर संगीत की लय और ढोलक की तीव्र ताल पर लाल-लाल धधकते अंगारो पर नाचते है। नृत्य के समय वे हाथ मे भी अंगारे ले लेते है किन्तु चमत्कार यह है कि उनका कोई अंग विदग्ध नही होता। सत्य होते हुये भी यह एक महान् आश्चर्य है।

बीकानेर राज्य के कतारियासर, बमलू, लिखमादेसर, मालासर आदि गाँव जसनाथी सम्प्रदाय के तीर्थस्थल है। जोधपुर राज्य भी इस सम्प्रदाय

का केन्द्र रहा है। कच्छ, भुज, पंजाब, हरियाणा और मालवा में आज भी हजारों की संख्या में इस सम्प्रदाय के अनुयायी विद्यमान हैं। जसनाथी सन्त देशाटन में विश्वास नहीं करते—एक स्थान पर रहकर ही वे साधना करते हैं। सम्भव है, इसी कारण से यह सम्प्रदाय अधिक नहीं फैला।

फिर भी राजस्थान की महिमामयी सन्त परम्परा में सिद्ध जसनाथी और उनके द्वारा प्रवर्तित जसनाथी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है और इसका स्थान सदैव गौरवमय रहेगा।

राजस्थान के सन्तसम्प्रदाय—

२—राम स्नेही सम्प्रदाय

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उत्तर भारत में भक्ति और दर्शन की धारायें प्रवाहित हुई। कालक्रम के अनुसार उनके अन्तर और बाह्य में अनेक परिवर्तन हुये। वैदिक उपासना-पद्धति को अभिभूत करके बौद्ध और जैन धर्मों की अनीश्वरवादी साधनायें भी स्थिर-रूप नहीं रही। इनमें अनेक मत-मतान्तरों ने जन्म लिया। महायान, हीनयान, वज्रयान, सहजयान के विकास क्रम से निकलती हुई यह साधना-पद्धति सिद्धों और नाथों की साधनाओं का रूप ग्रहण कर लेती है। आठवी शताब्दी में वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के लिये अद्वैतवाद के समर्थक श्री शंकराचार्य का आविर्भाव होता है। शंकर अद्वैत की विभिन्न व्याख्याओं और अर्थ-ग्रहण के अनन्तर परवर्ती आचार्य रामानुज, माध्व, निम्बार्क और वल्लभ इसी वैदिक पृष्ठभूमि पर अपनी अपूर्व व्याख्याओं की स्थापना करते है यथा विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत आदि-आदि। आठवी से तेरहवी शताब्दी तक का समय भारत की भक्ति साधना का बहुत ही महत्वपूर्ण काल रहा है। भारतीय सन्त-साहित्य के महासागर में पहुँचाने वाली राजस्थान की सन्त-धारायें भी अपने भू-भाग को आप्लावित करती हुई निरन्तर प्रवाहित रही हैं। मन्दाकिनी सदृश उनका वेग किसी प्रकार भी क्षीण अथवा मन्द नहीं रहा।

विशिष्टाद्वैत के समर्थक और श्री सम्प्रदाय के संस्थापक श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में सं. 1356 में एक महा विभूति का जन्म हुआ। वे थे रामानन्द। इनके आविर्भाव से उत्तर भारत की भक्ति साधना में एक और नया मोड़ उपस्थित होता है। युग की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर यह श्री सम्प्रदाय की साधना-पद्धति और सिद्धान्तों मे परिवर्तन करते हैं। विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर उन्हीं के अवतार-रूप समुच्चय की उपेक्षा कर एकमात्र भक्ति को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित कर, संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा को अपनी मतामिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार कर इस महापुरुष ने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की जिसका नाम रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय है।

राजस्थान के आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन में इस महान सन्त

क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जोगीनाथों की प्रमुखता के पश्चात् राजस्थान में जितनी साधना-पद्धतियों अथवा सम्प्रदायों ने जन्म लिया, वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से श्री रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय से ही उद्भूत प्रतीत होती है।

राजस्थान की रामानन्दी सन्त-परम्परा की पृष्ठभूमि मे अब हम रामस्नेही सम्प्रदाय के उद्भव, विकास और इसकी साधना-पद्धति तथा दर्शन की संक्षेप मे विवेचना करेंगे।

राजस्थान मे रामस्नेही नाम के तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं—
1 सिंहथल-खेड़ापा, 2 रैंण और 3 शाहपुरा। श्री सिंहथल-खेडापा के मूलाचार्य पूज्यपाद श्री जैमलदासजी महाराज हुए, श्री रैंण सम्प्रदाय के मूलाचार्य पूज्यपाद श्री दरियावजी महाराज हुए और श्री शाहपुरा सम्प्रदाय के मूलाचार्य पूज्यपाद श्री रामचरणजी महाराज हुए। यद्यपि इन तीनो सम्प्रदायों की साधना एवं पद्धतियों मे प्राय. सादृश्य ही है तथापि इनकी पृथक्-पृथक् उत्कृष्ट परम्परायें है, पृथक् आदर्श हैं एव पृथक्-पृथक् साहित्य सम्पत्ति और पृथक्-पृथक् आचार्य और शिष्य परम्परायें हैं। यहा हमारा अभिप्रेत केवल सिंहथल-खेड़ापा सम्प्रदाय का विवेचन करना है।

जब हम सिंहथल-खेडापा सम्प्रदाय के आदि-उद्गम पर विचार करते हैं तो हमें इसका सूत्र रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द की शिष्य-परम्परा में दीक्षित पूज्यपाद श्री माधोदासजी महाराज 'मैदानी' से मिलता है। सभवतः यही पहले सन्त है जिन्होने रामोपासना की परम्परा का प्रारम्भ इस प्रदेश में किया।

पूज्यपाद माधोदासजी महाराज 'मैदानी' की जीवन सम्बंधी सम्पूर्ण सामग्री अभी तक अप्राप्य है। इतिहास-ग्रन्थों में जो कुछ सामग्री उपलब्ध हैं उसके आधार पर निष्कर्ष निकलते है कि यह जाति से मालदेवोत भाटी राजपूत थे। माधोसिंहजी इनका नाम था। जैसलमेर के एक गाव वास टेकरा के यह रहने वाले थे। डाके डालना, गाव लूटना, राहगीरो को संत्रस्त करना इनके कार्य थे। स्वभाव से ये बड़े क्रूर थे। किन्तु एक घटना ने इनके जीवन-प्रवाह को ही पलट दिया।

एक दिन यह अपने दल के साथ एक यात्री-दल को लूटने की घात मे थे। वह सारा प्रदेश इनके नाम से ही भयभीत था। माधोसिंह धाडायती (डाकू) के नाम को सुन कर ही लोग कापने लगते थे। वह यात्री-दल रात्रि मे विश्राम करने के लिए उस जंगल मे ठहरा और आग जला कर भोजन बनाने लगा। दल के सभी लोग डर रहे थे कि कही माधोसिंह धाडायती आ

कर हमें लूट न ले। वे बड़े कातर और भयाक्रांत-से परस्पर अपनी-अपनी दीनता एवं असहायता का वर्णन कर रहे थे। माधोसिंह अंधेरे में छिपे हुये उनकी यह सारी कारुणिक बातचीत सुन रहे थे। अपने कुकर्मों एवं उनकी करुणार्द्र वार्ता से तत्क्षण इनको आत्मग्लानी होने लगी। वे अपने साथियों को यह संकेत करके आये थे कि ज्योंही आग बुझ जाय यात्री-दल पर आक्रमण कर देना। यात्रियों की दयनीय दशासे द्रवित माधोसिहजी का अब यात्रियों को लूटने का प्रश्न ही नहीं था। इन्होंने यात्रियों को आश्वस्त किया और चुपचाप चले जाने को कहा। स्वयं उसी अग्नि के समक्ष बैठ कर एक लंगोट लगा कर एवं अन्य कपड़ों से अग्नि प्रज्वलित करके तप करने लगे। खुला मैदान ही इनका साधना-स्थल था। इसलिए बाद में यह माधोदासजी 'मैदानी' कहलाये। अपने योग चमत्कार, ब्रह्मचर्य और सिद्धत्व के कारण यह बहुत ही लोकप्रिय हुये।

इन्हीं माधोदासजी 'मैदानी' की शिष्यपरम्परा में श्री रामस्नेही सम्प्रदाय (सिंहथल-खेड़ापा) के मूलाचार्य पूज्यपाद श्री जैमलदासजी महाराज हुए।

रामस्नेही सम्प्रदाय के मूलाचार्य और आदि प्रवर्तक के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यतायें रही हैं। अपने दृष्टिकोण और विचाराभिव्यक्ति में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। हमारा विश्वास है कि किसी भी सम्प्रदाय का आविर्भाव किसी-न-किसी ईश्वरीय आदेश से होता है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि सिंहथल-खेड़ापा, रैण और शाहपुरा तीनों ही सम्प्रदायों के मूलाचार्यों को पृथक् पृथक् समय पर ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुए थे और उन्हीं की प्रेरणा-स्वरूप इन महापुरुषों ने पृथक्-पृथक् कालों में रामस्नेही सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन किया।

रामस्नेही—रामस्नेही शब्द का अभिधार्थ तो यही है कि वह कोई भी व्यक्ति जो भगवान राम में स्नेह और भक्ति रखता है रामस्नेही है किन्तु सम्प्रदाय में आकर यह कुछ रूढ और तात्विक हो गया है। रामस्नेही सम्प्रदाय के अनुयायी का संसार के प्रति निर्वेद का भाव होता है। राम ही उसके जीवन का एकमात्र केन्द्रबिन्दु होता है—उसकी सारी कामनायें, साधनायें और जीवन के कार्य-व्यापार राम को ही समर्पित होते हैं। रामस्नेही का राम दाशरथी नहीं—वह तो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त परब्रह्म ही है—ऐसा परब्रह्म जो आगे चल कर ररंकार मात्र रह जाता है। ऐसे भक्त में राम के प्रति सहज रागानुभक्ति होती है। इसीलिये वह 'रामस्नेही' कहलाता है। निर्गुण राम का नामस्मरण ही रामस्नेही अपनी मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ अथवा एकमात्र साधन मानता है।

रामस्नेही सन्तों के प्रमुख दो भेद होते हैं—प्रवृत्त और विरक्त के चार भेद माने गये हैं—उपराम, गूदड़, विदेह और परमहंस। श्री खेड़ापा रामस्नेही सम्प्रदाय के परमहंस सन्त श्री सेवगरामजी महाराज (सूरसागर) ने विरक्त सन्त के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

॥ चौपाई ॥

परसराम प्रकट जग मांही, विचरत रहे गोप कहुं नांही।
जगत भेष सब के मन भावे, धिन्न धिन्न कर सब गावे ॥ 1
जिनकी संगत सन्त अनेका, भक्ति ज्ञान वैराग विवेका।
विरकत वृत श्रवन सुन लीजें, जाके दरश परस अघ छीजे ॥ 2
पर इच्छा प्रसाद हि पावे, जो अपने बिन जान्यें आवे।
के जन भंवर व्रत कर लेही, ताही सू निरभावें देही ॥ 3
यूं कोऊ वस्त्र ले आवे, तन ढाकरण कर गुजर चलावे।
त्यों आश्रय विचरण अरु रहना, ज्ञान विचार विचार र कहना ॥ 4
जल पट जल पातर कर धारी, मही दया की बात विचारी।
परइच्छा वस्त्र नहिं लेवे, पुनः भोजन पर चित्त न देवे ॥ 5
फाटो टूटो जोड मिलाई, यूं तन ढांकरण कर बरताई।
घने घरन फिर लावे फेरा, आठ पहर में एक ही बेरा ॥ 6
जल पट जल पातर कर साईं, वृत उपराम कहत है ताईं।
पंथ चीर की कंथा जोडे, अनुमन रहे जगत मोहे तोड़े ॥ 7
धाटे सू चुगलावे धागा, गहियां रहे परम वैरागा।
डीबी में कर लावे मीषा, जिन मांगी सतगुरु की सीषा ॥ 8
तिनकू ले जल पर बस जाई, आतम भाड़ो दे गुजराई।
या गुदड़ की विरती कहावें, पुनः निर्माण रह्यो नहिं जावें ॥ 9
कर बधन नीके कस लेवे, पुनः लगोट जुगत सू देवे।
देख रेत धरणी पग धारे, बचन विचार बिचार उचारें ॥ 10
निश्चल नीर छारण कर लावें, सिमरण करे सुरत ठहरावें।
भोजन द्वै प्रकार करीजे, पर इच्छा कें भिक्या कीजे ॥ 11
यह जन कहिये वृत वदेहा, या देही सूं रखे न नेहा।
दसा दिगम्बर आतम रामा, बिचरे भू में हुय नह कामा ॥ 12
संगत साथ आय नहिं कोई, रहे निशंक शंक नहिं कोई।
ज्यूं कुंजर मद छकियो डोले, उनमुन रहे नेक नहिं बोले ॥ 13
भोजन इजगर विरती पावें, जे कोई आसरण आरण पुगावे।
या विध परमहस वृत होई, या ऊपर विरती नहिं कोई ॥ 14

विश्राम साखी

पंच विरक्ती वैराग की, वर्णन कीनो वीर
परमारथ के कारने, मंता धरया सरीर ॥ 1

साधना-पद्धति के भेदानुसार उपरोक्त विशिष्टताओं के अतिरिक्त समस्त रामस्नेही साधकों के लिये कतिपय लक्षण और साधना के नियम बताये गये हैं। यह एक प्रकार से उनकी आचार-संहिता है।

आचार्य श्री दयालजी महाराज ने रामस्नेही सन्तों के प्रमुख लक्षणों को इस प्रकार बताया है—

मान सनेह जाल जग झूठा, जामण-मरण काल भ्रम छूटा।
मोह सनेह जन्म घर धरना जाति सनेह चौरासी फिरना ॥
काम क्रोध के जो सनेही, ध्यान-धान उनमान मिलेही।
देह अवस्था प्रकृति सनेहा, कर्म-प्रधान संयोग मिलेहा।
पांच पचीस सनेहा, पंचकोष मय चितवन देहा।
एता नेह तजै रे भाई, एक प्रीति गुरु-चरण संभाई।
रामसनेही जाको नामा, हरिगुरु साधु संगति विश्रामा।
(श्री दयालु परची)

छप्पय

मिलतां पारख प्रसिद्ध विमल चित रामसनेही।
उर कोमल मुख निर्मल प्रेम प्रवाह विदेही ॥
दरसण परसण भाव नेम नित श्रद्धा दासा।
साच वाच गुरु ज्ञान भक्ति प्रण मन एक आशा ॥
देह गेह सम्पति सकल हरि अर्पण परमानिये।
जन रामा मन वच कर्म रामस्नेही जानिये ॥ 1
खान पान पहिरान निर्मली दशा सदाई।
सात्विक लेत आहार हिंसा करि है न कदाई ॥
नीर छाण तन वरत दया जीवों पर राखै।
बोले ज्ञान विचार असत कबहू नहिं भाखै ॥
साधु संगति पणसत सुदृढ़ नेम रामा लियां।
रामस्नेही रामदास तन मन धन सेवै कियां ॥ 2
श्रद्धा सुमरण राम मौन मन राम सनेही।
गुणचाही गुणवन्त लाय लेखैं हरि देही ॥
अमल तम्बाकू भांग तजै आमिष मद पानैं।
जुआ धूत का कर्म नारि पर माता जानैं ॥

साच शील क्षमा गहे राम राम सुमरण रता ।
रामा भक्ति भावदृढ़ रामा स्नेहीं ये मता ॥ 4

(श्री दयालु वाणी)

इस प्रकार रामस्नेही साधक के लिए साधना के नियम भी आचार्य श्री दयालजी महाराज ने अपनी 'परची' मे बताये हैं—

भैरव आदि भवानी देवा, प्रथम छाडियो इनकी सेवा ।
आन मंत्र और सबै विसारो, राम मंत्र एक मुखा उचारो ॥
होका-अमल निकट लावो, सुरापान आमिष मति खावो ।

रामस्नेही के उपरोक्त आचार-धर्म से यह प्रकट हो जाता है कि वह केवल राम का मुखजाप करने वाला भक्त ही नही है अपितु एक विशिष्ट साधक है जिसका विशिष्ट जीवन-दर्शन और पद्धति है ।

भारतीय सन्त-मत मे मध्यम मार्ग को सर्वाधिक स्वीकृति मिली है । सन्त अतिवाद के विरोधी रहे है । अतिवाद मे जो सैद्धान्तिक आग्रह है वह कभी भी आत्मिक सन्तोष और शान्ति का साधक नही होता । सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है "सन्तों ने प्रवृत्ति एवं निवृति मार्गो के मध्यवर्ती सहज मार्ग को ही अपनाया है और विश्व कल्याण मे सदा निरत रहते हुए भूतल पर स्वर्गलोक का स्वप्न देखा है ।" रामस्नेही सम्प्रदाय का मूलाधार भी यही मध्यम मार्ग है । आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने मध्यम मार्ग का महत्व इस प्रकार प्रकट किया है—

रामदास मध अंगुली पकड़ राख विसवास ॥
आसपास की दूर कर, ज्यूं पावौ सुख रास ॥
आसपास की छाड दे, रहो मध्य मूं लाग ।
रामा आसैपास मे, दोनूं कानी आग ॥
मध्य आंगुली भालकर, पहुता सुख की सीर ।
रामदास गंग जमुन बिच, जहां त्रकुटी तीर ॥

रामस्नेही सन्तों के लिए सद्गुरु और सत्संग के निरन्तर सेवन का निर्देश किया गया है । यों यह दोनो ही विषय सन्त-मत के प्राण है । हमारी संस्कृति में गुरु और ईश्वर को समान माना है । विभिन्न सम्प्रदायो और मत-मतो के आचार्य ने सद्गुरु और सत्सग का गुणानुवाद किया है । भारतीय संस्कृति की ऐसी मान्यता रही है कि आध्यात्मिक साधना के पथ पर ऐसा गुरु ही मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है जिसने इस साधना पथ के समस्त रहस्यों का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो । यह पथ बडा जटिल है—साधक का बिना गुरुज्ञान के इतस्ततः भटक जाना बहुत बना रहता है । आचार्य विनोबा भावे ने कहा

है "सन्तों की जीवन-योजना मे आखिरी बात है सत्सग की चाह। सामान्य व्यावहारिक विद्या की प्राप्ति के लिये भी जब उस विद्या के जानकार का सहारा लेना पड़ता है, तब आध्यात्मिक साधना मे प्रवेश की इच्छा रखने वाले को अनुभवी संत पुरुषों की संगति ढूंढनी ही पडेगी।" आचार्य श्री रामदासजी ने सद्गुरु का साधक के जीवन मे महत्व इन शब्दो मे प्रकट किया है—

रामदास सतगुरु मिल्या, मिलिया रामदयाल।
सुखसागर मे रम रह्या, मेटया विर्षे-जजाल॥
गोविन्द तें गुरु अधिक है, रामे कह्या विचार।
गुरु मिलावें राम सूं, राम अमर भरतार॥

सत्संग—

साधु-संगति बिन रामदास, किणी न पायो राम।
कुसंगत सेती प्रीत कर, किता गया बिकाम॥
साधु-संगत साची सदा, झूठी कदे न जाए।
रामदास हितकर किया, पावें पद निरवाण॥

रामस्नेही सम्प्रदाय का दर्शन—

सन्त साहित्य के अध्येताओं का एक मत रहा है कि सन्तो के साहित्य में किसी व्यवस्थित विशिष्ट दर्शन की धारा को ढूंढना अनुचित है। वे लोग शास्त्रज्ञ और पंडित नही होते थे। स्वानुभूति ही उनकी प्रधान प्रेरक शक्ति रही है और इसी के बल पर वे अमूल्य विचार वाणी के माध्यम से देते चले गये। डा. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने भी कहा है "ये दार्शनिक न होकर आध्यात्मिक महापुरुष मात्र है।" अतः सन्त सम्प्रदायो मे अद्वैत, द्वैत, त्रैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत ढूंढना समीचीन नही। शास्त्र के रूढ़ व घिसेपिटे ज्ञान के स्थान पर इन्होंने लोकधर्म की प्रतिष्ठा की। अतः काका कालेलकर के शब्दों मे यदि यह कहा जाय कि लोक-धर्म में जो अच्छा अंश उन्हे मिला, उसी को उन्होंने प्रतिष्ठा बढ़ाई और अनिष्ट अंश का प्राण-पण से विरोध किया। अपने अनुभव, अपने निरीक्षण और लोक-कल्याण के आधार पर उन्होने विशिष्ट सिद्धान्त ढूंढने की दृष्टि सदैव स्वस्थ नहीं कही जा सकती। मतो के आग्रह ने कबीर-दर्शन की जो छिछालेदर की है वह विद्वानों से छिपी हुई नही है।

रामस्नेही सम्प्रदाय के दर्शन पर उपरोक्त पृष्ठभूमि मे विचार करके ही हम किसी निश्चित निर्णय पर पहुंच सकते है। भारत में प्रचलित तत्कालीन सन्त सम्प्रदायो की भांति इस सम्प्रदाय के दर्शन में भी अनेक साधना

पद्धतियों का समावेश हुआ है। शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, नाथ और सिद्धों का योग, वैष्णवों की सगुणोपासना और सूफियों का प्रेम-मार्ग–सभी इस सम्प्रदाय के दर्शन में समाविष्ट हुये। इस सम्प्रदाय में ही ऐसा हुआ हो सो बात नहीं। देखा जाय तो सन्त-मत की यह सामान्य प्रवृत्ति रही है। इसके सम्बन्ध में श्री विनोबा भावे ने कहा भी है, "हमारे सन्तों की पाचन-शक्ति प्रखर होने के कारण ये सारे भिन्न-भिन्न दर्शन उनको विरोधी नहीं मालूम होते, बल्कि इन सबको वे एक साथ हजम कर लेते हैं।"

रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्य और सन्त भी बड़े उदार रहे हैं और जहां जिस साधना-पद्धति में उन्हें अच्छाई लगी उसे बिना किसी पूर्वाग्रह के ग्रहण कर लिया—यह उनकी सारग्राही प्रवृत्ति थी।

भक्ति-साधना की जिन प्रचलित पद्धतियों को इसमें स्वीकृति नहीं मिली उनका खण्डन अथवा विरोध करने का भाव रामस्नेही सम्प्रदाय के आचार्यों का नहीं रहा। वह केवल निषेधात्मक प्रवृत्ति है, खण्डनात्मक नहीं। उदाहरण के लिए इस सम्प्रदाय में सगुणोपासना का निषेध किया गया है तो इसका कारण यही रहा है कि रामस्नेही सन्त को सगुणोपासक प्रकृत भक्त से ऊँचे उठने का लक्ष्य दिया गया है। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि साधना-पद्धतियों का रामस्नेही मत में भी निषेध हुआ है। यहां तक कि कहीं-कहीं पर कटु आलोचना भी की है किन्तु इस सब के पीछे अपने अनुयायियों को श्रेयस्कर साधनामार्ग का ज्ञान कराने की भावना रही है।

हमारे धर्मशास्त्रों में साधक के दो प्रमुख भेद माने गये हैं—एक मस्तिष्क प्रधान अर्थात् तार्किक या ज्ञानमार्गी और दूसरा हृदयप्रधान अर्थात् भक्ति-प्रधान और श्रद्धायुक्त। वादों से ग्रस्त सम्प्रदायों और साधना-पद्धतियों में अवश्य मस्तिष्क पक्ष की प्रधानता होती है—उनका भावना और श्रद्धा का पक्ष प्रायः बहुत दुर्बल होता है।

विश्व के विविध धर्मों (बौद्ध, यवन, ईसाई आदि) के इतिहास का यदि हम अध्ययन करें तो हमें पता लगेगा कि वे सब अपने-अपने प्रवर्तक के मस्तिष्क का उत्पादन मात्र है। उनमें भी जनहित का भाव सम्मिलित है। हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति विशेष की सूझ नहीं अपितु तत्तद् आचार्यों एवं भगवान के विशेष अवतारों द्वारा इसका आविष्कार, सम्पादन एवं संरक्षण हुआ है। इस हिन्दू धर्म में निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार आदि उपासना-पद्धतियां हैं। रामस्नेही सम्प्रदाय इसी आविष्कृत हिन्दू धर्म का अंग है किन्तु इसके दर्शन की अपनी मौलिकता है।

रामस्नेही सम्प्रदाय के दार्शनिक धरातल की रूपरेखा संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती है—

1 रामस्नेही सम्प्रदाय का दर्शन शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित है।

2 रामस्नेही सम्प्रदाय में राम के सगुण-निराकार रूप का सुमिरण और साधना होती है। "यह राम दाशरथी राम नहीं है। यह एक शब्द में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का सृजन करने वाला है। यह निरंजन ब्रह्म है। यह अचल, अखण्ड, अभंग है। यह पतितपावन है। सर्वाङ्गीण है। राम ही परब्रह्म है, राम ही परमतत्व है और राम ही ब्रह्म तारक है।" रामस्नेही का राम द्वैत-अद्वैत, सगुण-निर्गुण सभी सीमाओं से परे है। निर्गुण राम के सगुण रूप की आराधना अनेक सन्त-मतों में हुई है। रामस्नेही सन्तों की अनुभव वाणी में भी यत्र-तत्र ऐसे अवतारी स्वरूप का गुणगान मिलेगा किन्तु इनकी मूल आस्था निराकार राम में ही है। निर्गुण राम के सगुण रूप की आराधना इसलिए हुई है क्योंकि इस सम्प्रदाय का दर्शन ब्रह्म में दया, आनन्द, वत्सलता आदि गुणों को स्वीकारता है।

3 रामस्नेही सम्प्रदाय का विश्वास भी 'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या' में है। कबीर की भांति रामस्नेही सन्तों ने भी माया की खूब ही भर्त्सना की है। आचार्य श्री रामदासजी के शब्दों में देखिये—

राम। माया डाकिणी, डकरणाया (डकरणायो) ससार।
काढ कलेजो खायगी, जाकी सुध्ध न सार।
मायापासी रामदास, सब नाख्या फन्द मांय।
तीन लोक कूं घेर कर, हरि सूं लिया तुडाय॥

4 रामस्नेही सम्प्रदाय की साधना-पद्धति में योगशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। 'सुरति-शब्द-योग' उसमें प्रमुख है। यह एक साधना-पद्धति है। इसकी व्युत्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में विद्वान आज भी एकमत नहीं है। रामस्नेही सम्प्रदाय में सुरति-निरति शब्दों का विशिष्ट प्रयोग हुआ है। यहां सुरति शब्द से चित्त की उस विशेष वृत्ति का द्योतन होता है जो ररंकार ध्वनि के साथ अबाध रूप से एकात्म होकर उसमें समाहित रहती है। निरति शब्द से यहां तात्पर्य उस सहजावस्था से है जहा पर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का लय हो जाता है—साधना का अन्त होकर जहां साध्यावस्था प्राप्त हो जाती है।

उपरोक्त सुरति शब्द योग के अनुसार रामस्नेही साधना का मार्ग निम्नानुसार है—

इस सम्प्रदाय मे रामनाम का स्मरण एक विशिष्ट योग-पद्धति से अवलम्बित है। रसना, कण्ठ, हृदय, नाभि आदि स्थानों पर शब्द सुरति की स्थिति होती है इसलिए इस नाम-स्मरण की चार कोटियां है—1 अघ (अधम), 2 मघ (मध्यम), 3 उत्तम, 4 अति उत्तम अर्थात् रसना के द्वारा स्मरण कहलाता है, कण्ठ के द्वारा मध्यम स्मरण कहलाता है, हृदय के द्वारा उत्तम स्मरण कहलाता है और नाभि के द्वारा अति उत्तम स्मरण कहलाता है। नाभि मे जाकर राममन्त्र के 'मकार' एव 'अकार' जो माया एवं जीव के स्वरूप माने जाते है केवल 'रकार' रूप होकर परब्रह्म में लीन हो जाते है। नाभि मे शब्द के स्थित होने पर शरीर की सम्पूर्ण रोमावलियो से केवल 'रकार' ध्वनि होती है। नाभि से आगे साधना के द्वारा कुण्डलिनी को जागृत कर, मेरुदण्ड की 21 मणियो का छेदन कर शब्द उर्ध्वगति को प्राप्त होता है। त्रिकुटी में जाकर यही शब्द सुरति एवं निरति के द्वारा ब्रह्म मे लीन हो जाता है एव साधक को योगियो की सी सहज समाधि एवं निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो जाती है। यही रामस्नेही सन्त की परम साध्यावस्था है।

रामस्नेही सम्प्रदाय मे भक्ति एव योग का जो समन्वय हुआ है वह अपना विशिष्ट स्थान रखता है और इस सम्प्रदाय को अपनी इसी मौलिकता के कारण इतर सम्प्रदायो से पृथक् करता है।

5 रामस्नेही सम्प्रदाय मे जीवनमुक्त अवस्था को ही मुक्ति माना है। *संसार मे रहते हुये, शरीर को धारण करते हुये, मन को निर्जीव कर लेना* और ब्रह्म में लीन होने की अवस्था ही जीवनमुक्ति है। आचार्य श्री रामदासजी महाराज ने 'मरजीवा' के लक्षण इस प्रकार बताये है—

और सार पूछे नही, जग की तजी पिछाण।
रामदासिरतग भया, लगे न जम का बाण ॥
रामदास जन ऊबरधा अम्मर बूटी पाय।
जीवन-मरतक हुया, सांई सरण संभाय ॥

(अनुभव वाणी)

वाणी का साहित्यिक मूल्यांकन—सन्त-साहित्य का मूल्यांकन शास्त्रीय मापदण्डों पर करना उचित नहीं। साहित्य के सम्बन्ध में सन्तों की मान्यतायें पृथक् रही है। छन्द, अलंकार और भाषा-शास्त्र की सूक्ष्मताओं की गहराई में यह नहीं गये। ऐसी परिस्थिति मे यदि आलोचक साहित्य-सिद्धान्तों का आग्रह करें भी तो इसमे कोई न्याय्यता नहीं। श्रद्धेय श्री वियोगी हरि ने आलोचकों की इस मनोवृत्ति के सम्बन्ध मे कहा है, "मैंने

देखा कि रीति-ग्रन्थों का फीता लेकर वे साहित्यालोचक सन्तवाणी का असीम क्षेत्रफल निर्धारित करने गये थे—चौकोर बन्धे हुये तालाब पर धीरे धीरे सरकती हुई नौका जैसे असीम अनन्त सागर के बिखरे वैभव को मापने पहुची थी।''

सन्तो ने जो कुछ लिखा वह जन-समाज के लिये लिखा। भावों का प्रकाशन ही उसमें प्रधान हुआ है और भाषा का प्रयोग गौण। यही कारण है कि भाषा, व्याकरण और काव्यशास्त्र सम्बन्धी अनेक असंगतियां इस साहित्य मे उपलब्ध होती हैं किन्तु 'साहित्य जीवन के लिये' के सिद्धान्तों का जितना अनुसरण इस साहित्य मे हुआ है उतना अन्यत्र उत्कृष्टतम व प्रगतिशील कहे जाने वाले साहित्य मे भी दृष्टिगोचर नही होता। लोकहृदय को स्पर्श करने की शक्ति सन्तों मे अपूर्व रही है और इसका कारण यही रहा है कि समाज-हृदय से वे कभी दूर नही हुये। लोकभाषा मे सरल मे सरल अभिव्यक्ति मे सन्तो ने अपने अनुभव कहे और वे लोक मानस को बिना किसी चेष्टा के ग्राह्य हो गये। साहित्य की सार्थकता की इससे अधिक उत्तम कसौटी और क्या हो सकती है? यह आरोप कि ''इन सन्तों की अटपटी रचनाओं में न तो साहित्यिक सरसता है न संगीत की लय और न कला की ऊँची अभिव्यजना ही और भाषा भी इनकी ऊबड़-खाबड़-सी ही है''—साहित्यिक उदारता को प्रकट न कर शायद पूर्वाग्रही अस्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक है।

राजस्थानी लोकधर्म व दर्शन का स्वरूप

'लोक' शब्द आज एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन और अनुसन्धान के इस युग में अनेक जन-प्रचलित शब्दों को उनके सामान्य अर्थों के अतिरिक्त विशेष वैज्ञानिक अर्थ और सन्दर्भ दिये गये हैं। लोक का, व्यापक मानव समाज से अर्थ न लेकर लोकवार्ता-विज्ञान आज 'मानव समाज के उस वर्ग से अर्थ लगाता है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।'[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में 'लोक' शब्द से अर्थ उस मानव-वर्ग से लिया गया है जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं से मुख्यतः परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षर ज्ञान है—ग्रामीण और गंवार।[2]

'लोक' शब्द का उपर्युक्त अर्थ और परिभाषायें यह स्पष्ट करते है कि लोक-मानस और हृदय सहज और सारल्य सवृत्त होता है, उसमें दिखावा नही होता, मानव-स्वभाव की वक्रतायें और कुटिलतायें नही होती। प्रसिद्ध लोकवार्ताविद् जेम्स फ्रेजर ने इस लोकमानस और हृदय का स्पष्टीकरण करते हुये प्रस्थापित किया है कि वह विवेकपूर्वी (Prelogical) और मिस्टिक होता है।[3] फ्रेजर की इन मूल स्थापनाओं को लोकमानस और लोकवार्ता-विदों की पूर्ण सहमति यद्यपि नही मिल पाई किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य है जिन्हे वे सभी स्वीकार करते है। ये तत्त्व संक्षेप में इस प्रकार है—(1) लोक-मानस यथार्थ और कल्पना में भेद नही करता (फैंटेसी थिंकिंग), (2) वह प्राणी-अप्राणी-जड़-चेतन को आत्मा से युक्त मानता है (एनिमिस्टिक थिंकिंग), (3) उसका यह विश्वास रहता है कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है (मैजिकल थिंकिंग), (4) उसका यह अमिट विश्वास है कि विशेष विधि से कार्य करने में इच्छित फल अथवा अभीष्ट की प्राप्ति होती है (रिचुअल थिंकिंग)।[4] इन तत्त्वों के परिणामस्वरूप लोकजीवन में हमें ऐसे अनेक

---

1 लोकसाहित्य विज्ञान, पृ. सं. 3 डॉ. सत्येन्द्र।

2 फोक-लोर, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग 10

3 दि गोल्डन बाउ, सर जेम्स फ्रेजर।

4 लोकसाहित्य विज्ञान, पृ. सं. 48, डॉ. सत्येन्द्र।

विश्वास, मान्यतायें, आचरण, अभिचार और अनुष्ठान देखने को मिलते हैं जिनका औचित्य और उपयोगिता आज के बुद्धिप्रधान वैज्ञानिक युग में समझ में नहीं आते। इन्हीं के फलस्वरूप वह देवी-देवताओं, प्रकृति और पराप्राकृतिक शक्तियों, भूतों और प्रेतों में विश्वास करता है। वह वृक्ष, पहाड़, नदी, नाले आदि को आत्मतत्व से युक्त मानता है। उसका विचार है कि चेतन मानवों की भांति यह सब काम करते हैं। मन्त्र, टोने और अनुष्ठानों की लोकजीवन में इसीलिये भरमार रहती है। उसका विश्वास है कि विशेष विधि से वह अपने अभीष्ट और अभिप्रेत को प्राप्त कर लेगा।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन लोकजीवन की मानसिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। अब हम इसके आधार पर लोक के दर्शन और धर्म को समझने की चेष्टा करेंगे। लोक किसीभी राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा होता है। एक जाति और राष्ट्र की गरिमा उसके लोक के जीवन में निहित होती है। उसकी संस्कृति, कला, धर्म, और दर्शन के वास्तविक स्वरूप के दर्शन नगरों में रहने वाले अति-आधुनिक और सभ्य समाज के जीवन में नहीं हो सकते, ग्राम्यांचलों के प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाले अनन्त लोक के जीवन में ही हमें ये दर्शन सुलभ हो सकेंगे।

इस निबन्ध में मैंने भारतीय लोक को ही आधार बनाया है। —प्रकारान्तर में यह राजस्थानी लोक भी है। जब हम भारतीय लोक के दर्शन और धर्म पर दृष्टिपात करते हैं तो सबसे महत्वपूर्ण विशेषता जो हमें दिखाई देती है वह है, उसकी आध्यात्मिकता। यह आध्यात्मिकता भारतीय लोकजीवन का अविनश्वर स्वरूप है।[1] वैदिक पूर्व-काल से लेकर आज तक लोकजीवन में आध्यात्मिकता की यह धारा अविरल गति से प्रवहमान मिलती है। आधुनिकता के प्रभाव से यह धारा यद्यपि क्षीण अवश्य हो रही है। लोक-हृदय समस्त जड़-चेतन में आत्म-तत्त्व के दर्शन करता है और उसमें अपनी अभेदता मानता है। भारतीय संस्कृति का सिद्धान्तसूत्र-'सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि आत्मनि' लोकदर्शन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन में अलौकिक स्नेह और सौहार्द दिखाई देते हैं। इस आत्मा और परमात्मा के समन्वय-दर्शन से हमारा जन-जीवन अत्यन्त समृद्ध हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, राधा, सीता, पार्वती, लक्ष्मी, लोकदेवता, लोकदेवियां ये सब लोक-जीवन और परिवार के अंग के रूप में ही लोकवार्ता और साहित्य में चित्रित

1 सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक) पृ. सं. 86

हुये हैं। जिस प्रकार दुख-सुख, हर्ष-विषाद, मिलन-वियोग, जन्म-मृत्यु आदि से साधारण मनुष्य अभिभूत होता है, उसी प्रकार उसके आराध्य ये देवी-देवता भी होते है। यह उसके अभेद-दर्शन का द्योतक है। शिव और पार्वती, कृष्ण और राधा, राम और सीता से सम्बंधित शत-शत भारतीय लोक-कथाओ और गीतों को इस कथन के प्रमाण स्वरुप प्रस्तुत किया जा सकता है। केवल देवी-देवताओ मे ही नही पशु, पक्षी, वनस्पति और अन्य प्राकृतिक उपकरणों में भी लोक की यही आत्मतत्वमयी अभेद-दृष्टि दिखाई देती है। इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, व्यष्टि और समष्टि लोकदर्शन में एक-रस हो गये हैं।

लोक-दर्शन और धर्म की दूसरी प्रमुख विशेषता श्रम-साधना और कर्म-निष्ठा मे दिखाइ देती है। लोक का प्रत्येक सदस्य कुछ-न-कुछ कर्म अथवा श्रम करता है। वह पराश्रित नही रहना चाहता। अपने श्रम से ही वह जीविकोपार्जन करता है। आदिम लोकजातियों के दैनन्दिन जीवन, उनकी बस्तियों, गृहनिर्माण आदि पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि श्रम की भागीरथी मे वे निरन्तर स्नान करते है। एक क्षण भी वे निष्क्रिय नहीं रहते। जीवन मे इस श्रम-साधना की प्रतिष्ठा महाभारत के शान्तिपर्व में व्यासजी ने कराई है—

अहो सिद्धार्थता तेषां, येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहदेतेषा, येषा सन्तीह पाणयः॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तवधनस्वै।
न प्राणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते॥

भारतीय लोकगीतो में कर्म और श्रम की इस महत्ता को देखा जा सकता है। आखेट, कृषि, पशु-पालन, कुटि-उद्योग और अब औद्योगिक उत्पादन से सम्बंधित ऐसे सहस्रों गीत हैं जो लोकजीवन की कर्मनिष्ठा का परिचय देते है।

लोकदर्शन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी समाजवादी दृष्टि। लोककला, साहित्य और संगीत के माध्यम से जो लोक-चिन्तन हमारे सामने आता है उसमे व्यक्ति की सत्ता को कहीं स्वीकृति नही मिली, न वह स्रष्टा है और न संरक्षक। लोक के चिन्तन मे समाज ही सर्वोपरि शक्ति है। वह ईश्वर से जो कुछ मागता है, व्यक्ति के लिये नहीं मांगता, समूचे समाज के लिये मांगता है। लोकसाहित्य में अभिव्यक्त सुख-दुख, हास-रुदन तथा शोक-आह्लाद व्यक्ति का नहीं है—वह समूचे लोक-मानस का है। संक्षेप मे लोक का व्यक्ति अपने लिये नही जीता, अपने अस्तित्व को समाज में विलय कर समग्र लोक के लिए जीवित रहता है।

लोकधर्म और दर्शन में व्यक्ति के नैतिकता से पूर्ण पवित्र आचार पर ध्यान दिया गया है। आभिजात्य संस्कृति में जो महत्त्व शास्त्रीय कर्मकाण्ड को दिया गया है वही नहीं; उससे कुछ अधिक लोकजीवन में लोकाचार को दिया गया है। मानवधर्म ही लोकधर्म का आधार है। मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा मानवधर्म के पालन से ही होती है। यह मानवधर्म ही लोक का आश्रय है। इसीलिये महाभारत में कहा गया है—

धर्मः सतां हितः प्रोक्तः धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात निर्मिताः सचराचराः॥

"धर्म ही सत्पुरुषों का हित है, धर्म ही सत्पुरुषों का आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म से ही निर्मित हैं।"

धृति, क्षमा, मन का निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध मनु महाराज द्वारा बताये गये मानव धर्म के ये दस लक्षण लोकधर्म के प्राण हैं किन्तु धर्म का यह उपदेश मनु महाराज ने वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित आभिजात्य समाज के लिये किया था। लोक-जीवन में हमें जो धर्म दिखाई देता है वह इस प्रकार का शास्त्रोक्त नहीं है। वह लोक-हृदय से प्रसूत सरल और स्वाभाविक धर्म है। सत्य भाषण, निष्कपट व्यवहार, निष्ठा, ईमानदारी, दया, क्षमा, अक्रोध, निर्लोभ, निडरता, ईश्वरभक्ति, नामस्मरण, व्रत, उपवास, प्राणिमात्र की सेवा आदि इस लोक-धर्म के तत्त्व हैं। लोकगीतों, हरजसों, लोकवाणियों, धर्मगाथाओं और लोककथाओं में हमें लोकधर्म का यही रूप मिलता है। लोकोत्सवों और धार्मिक पर्वों में भी लोकधर्म के दर्शन होते हैं। ये उत्सव और पर्व लोक की किसी-न-किसी धार्मिक आस्था को प्रकट करते हैं। इन उत्सवों और पर्वों के पीछे लोकानुरंजन का भाव भी निहित है किन्तु इनके आयोजन के पीछे लोक की धार्मिक भावना ही मुख्य रूप से क्रियाशील रहती है। दीपावली, होली, गणगौर, रक्षाबन्धन, दशहरा के समान ही अन्य अनेक पर्व और लोकोत्सव हैं, जिन्हें लोक अत्यन्त उत्साह के साथ मनाता है और ऐसे प्रत्येक पर्व अथवा उत्सव के पीछे धार्मिक एषणा ही कार्य करती है। समाज और परिवार की सुख-समृद्धि की कामना ही इन उत्सवों का लक्ष्य रहती है।

लोक के अन्धविश्वासों का उल्लेख भी यहां अनिवार्य होगा। मानव सभ्यता के आदिम युगों से ही मानव-समाज में अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित रहे हैं जिन्हें तर्क और बुद्धि की तुला पर नहीं तोला जा सकता। लोकजीवन में हमें जो अन्धविश्वास और मूढ़ाग्रह मिलते हैं, श्रीमती सोफिया

बर्न के अनुसार वे इस प्रकार हैं—

1 प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् से सम्बद्ध ।
2 मानव-स्वभाव तथा मनुष्यकृत पदार्थों से सम्बद्ध ।
3 भूत-प्रेतों की दुनिया से सम्बद्ध ।
4 जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज़ और भाग्य से सम्बद्ध ।
5 शकुन-अपशकुन से सम्बद्ध, और
6 रोग तथा मृत्यु से सम्बद्ध ।[1]

भारतीय लोकजीवन में इस प्रकार के अन्धविश्वास और मूढ़ाग्रह वैदिक काल से ही उपलब्ध होते हैं । अथर्ववेद के अनेक मन्त्र भूत, प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस और अन्य अलौकिक शक्तियों मे लोक-विश्वास को प्रकट करते है । उस काल मे जादू-टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि अलौकिक क्रिया-व्यापारों को लौकिक मान्यता प्राप्त थी ।[2]

भारतीय लोकसाहित्य में इस प्रकार के अन्धविश्वास आज भी उपलब्ध होते हैं जो लोकमानस की एक विशेष अवस्था का परिचय देते हैं । ग्रामीण, अल्प-अशिक्षित, सरल स्वभाव के लोग, अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों से पीड़ित है और उनका धर्म-भीरु हृदय उनकी अवहेलना की कल्पना भी नही कर सकता । सूने भवनो और स्थानों में भूतों के रहने की कल्पना, विशेष वृक्षों पर राक्षसो का निवास, शुभ कार्य, यात्रा, व्यापार के प्रारम्भ के समय शुभ मुहूर्त और शकुन-अपशकुन का विचार, रोग और मृत्यु का कारण किसी देवता, और देवी अथवा भूत-प्रेत का आक्रोश और फिर अभिचार और अनुष्ठान की विशेष विधि से उन्हें प्रसन्न करना इत्यादि अन्धविश्वास लोकजीवन से अभिन्न रूप मे सम्पृक्त मिलते हैं । इसी प्रकार बलि देने का रिवाज भी आदिम जातियों में इसी प्रकार के अन्धविश्वासों से जुड़ा हुआ है । आज भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कुछ आदिम जातियों में नरबलि की प्रथा मौजूद है । पशुबलि देना तो आम रिवाज है ।

लोकदर्शन और धर्म के इस सक्षिप्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि आभिजात्य समाज मे जो दर्शन और धर्म हमें आज उपलब्ध होता है, उसकी जड़ें लोकदर्शन और धर्म में हैं । शिष्ट और शिक्षित वर्ग की दार्शनिक और

---

1 हैंडबुक आफ फोकलोर, सोफिया बर्न ।
2 विश्व धर्मदर्शन, पृ. 23, साँवलिया बिहारीलाल वर्मा ।

धार्मिक मान्यताओं की सही व्याख्या और स्पष्टीकरण लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन से ही संभव हो सकते है। लोक के टोने-मन्त्र, अनुष्ठान, शकुन-अपशकुन आदि इस बुद्धि और तर्क के युग में हमें विचित्र और अनुचित लग सकते है किन्तु लोक की समाजवादी दृष्टि, अभेद दर्शन, समष्टिगत चिन्तन, शुचि आचरण लोकतन्त्रीय जीवन प्रणाली के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण कहे जायेंगे। जीवन के वर्तमान संदर्भ मे लोकदर्शन और धर्म के गहरे अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है।

राजस्थानी ऐतिहासिक आख्यानों में स्वदेश प्रेम

राजस्थान की धरती वीर-प्रसविनी रही है। इसका सम्पूर्ण इतिहास वीरता, महायुद्ध और अपूर्व बलिदानों की गौरव-गाथाओं से ओत-प्रोत है। इस धरती ने ऐसे सिंह-शावकों को जन्म दिया है जिन्होंने इस मातृभूमि की ओर आंख उठाने वाले शत्रुओं की आंखें निकाल ली और इस पवित्र वसुधा को पदाक्रान्त करने वालों को सदैव के लिये धरती पर सुला दिया। इन वीरों ने स्वतन्त्रता के दीपक की लौ को प्रज्ज्वलित रखा, स्वदेश-प्रेम की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। पुरुष तो पुरुष वीर क्षत्राणियों ने भी अपने देश, कुल-गौरव, जाति और धर्म की रक्षा के लिये हाथ में तलवार लेकर अधर्मी और आततायी शत्रु का मुकाबला किया। वे अग्नि-स्नान कर अपनी वीर प्रसू मातृभूमि और नारी जाति के मुख को उज्ज्वल कर गईं। राजस्थान प्रान्त की वीरता और बलिदान की गाथाओं की प्रशंसा करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल जेम्स् टाड ने लिखा है—"राजस्थान की भूमि में ऐसा कोई फूल नहीं उगा जो राष्ट्रीय वीरता और त्याग की सुगन्ध से आप्लावित होकर न झूमा हो, वायु का एक भी ऐसा झोंका नहीं उठा जिसकी झंझा के साथ युद्ध देवी के चरणों में साहसी युवकों का प्रयाण न हुआ, ऐसी एक भी कुटी नहीं जिसमें मातेश्वरियों की गोद में नि.स्वार्थ समर्पण और वीरता की ममत्व भरी लोरियां न गायी गई हो, ऐसा एक भी घर नहीं जिसमें अपने देश के तूफानों का तत्परता से सामना करने वाला वीर पैदा नहीं हुआ हो।"

राजस्थान के अतीत का गौरवमय यह इतिहास अपनी परम्पराओं को वर्तमान में भी जीवित रखे हुये है। चीन और पाकिस्तान के साथ भारत के युद्ध में राजस्थानी सैनिकों ने जो वीरता दिखाई है वह हमारे इतिहास के अनुकूल ही है। परमवीर पीरूसिंह, शैतानसिंह आदि अमृत-पुत्रों ने राजस्थान की धरती का मुख उज्ज्वल किया है।

अब सहज ही कल्पना की जा सकती है कि जिस भूमि की गोद से आन, बान और मान पर मिटने वाले वीर पैदा होते हैं, उस धरती का इतिहास कितना तेजस्वी होगा। राणा सांगा, महाराणा प्रताप, महाराजा जसवन्तसिंह, वीर दुर्गादास, जयमल पत्ता, जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह, आउवा ठाकुर

खुशालसिंह, कोठारिया रावत जोधसिंह, सलूम्बर रावत केसरीसिंह, उमरकोट का सोढा रतन राणा आदि वे इतिहास प्रसिद्ध पुरुष है जिन्होंने स्वदेश की रक्षा के लिये नाना प्रकार की यातनायें सही हैं—अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण देकर भी मातृभूमि के गौरव को बचाने का प्रयत्न किया है।

दुर्गा-स्वरूपिणी माता करणी राजस्थान की अधिष्ठात्री देवी है। इस जगजननी का वीरोचित स्वरूप किसी कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है—

तड़के डाढ वराह, कड़के पीठ कमठ्ठ री।
धड़के नाग धराह, वाघ चढे जद वीस-हथ॥

जब बीस भुजा वाली माता सिंह पर सवारी करती है तो पृथ्वी को धारण करने वाले वराह की डाढें तड़क जाती हैं, कच्छप की पीठ कड़क उठती है और शेष नाग तथा पृथ्वी कम्पायमान होकर डगमगाने लगते हैं। इस सोरठे में करणी माता के वीर स्वरूप के साथ राजस्थान की वीरता की प्रतिमा भी चित्रित हुई है। जब राजस्थानी का अमर कवि सूर्यमल्ल मिश्रण गाता है—

इळा न देणी आपणी, हालरियां हुलराय।
पूत सिखावै पालणै, मरण बडाई माय॥

झूला झलाते हुए और गीत गाते हुए माँ कहती है—हे पुत्र, अपनी पृथ्वी किसी को मत देना, प्राण देकर भी इस पृथ्वी की रक्षा करना। तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वदेश के लिए प्राणोत्सर्ग का पाठ इस प्रदेश की वीर माता दे आर्षमंत्र की भांति अपनी सन्तानो को पढ़ाती रही है। अब सोचिये, ऐसी धरती की वीर-सन्तानो के ऐतिहासिक आख्यान स्वदेश प्रेम, स्वातंत्र्य-प्रेम युद्ध और मृत्यु-पर्व के अतिरिक्त और क्या हो सकते है?

रण जीतण कंकण बधण,
पुत्र बधाई चाव।
ये तीन्यू दिन त्याग का,
कहा रंक कहा राव॥
धर जातां ध्रम पलटता,
त्रिया पडंता ताव।
ये तीन्यू दिन मरण रा,
कहा रंक कहा राव॥

यह विचारधारा, कर्त्तव्य-बोध राजस्थानी वीरो का मार्ग-दर्शन करती रही है।

राजस्थान के इतिहास से अब मैं कुछ ऐसे ही उपाख्यान प्रस्तुत कर रहा

हैं जो अपने महत्व के कारण लोक-प्रचलित हो गये और देशभक्त वीरों के प्रशंसक चारण कवियों ने जिन्हें अपने काव्य के द्वारा अमर कर दिया।

स्वदेश की बलिवेदी पर आहूत हो जाने वाले महाराणा प्रताप और अकबर के बीच चलने वाले संघर्ष की गाथा कौन नहीं जानता। एक बार कूटनयिक अकबर ने भरी सभा में कहा कि अब तो प्रताप भी हमारी अधीनता स्वीकार करने को तैयार हो गया है। अकबर की इस कोरी डींग का तत्काल ही निर्भीकता से खण्डन किया। 'जहांपनाह! सागर मर्यादा, हिमालय गौरव और सूर्य तेज को भले ही छोड़ दे परन्तु शरीर में बल, नसों में रक्त और हाथों में तलवार रहते तक प्रताप अपने प्रण को कदापि न छोड़ेंगे। वे आपकी अधीनता कभी स्वीकार नहीं करेंगे। मेरा अटल विश्वास है, मेवाड़ और भारत का ही क्या समस्त संसार का राज्य भी यदि प्रताप के पावों तले रख दिया जाय तो भी वे उसे ठुकरा देंगे। स्वदेश और स्वतन्त्रता के सामने प्रताप की दृष्टि में राज्य-सम्मान, राज्याधिकार और राज्य-वैभव का कोई महत्व नहीं है। राणा प्रताप के स्वदेश प्रेम, स्वातंत्र्य प्रेम की स्तुति में पृथ्वीराज (पीथल कवि) ने जो छन्द लिखे हैं वे राजस्थानी साहित्य में अमर हो गये हैं, कुछ छन्द देखिये —

घर वाकी दिन पाधरा,
मरद न मूकै माण।
घणां नरिंदां घेरियो,
रहे गिरंदां राण॥

जिसकी भूमि अत्यन्त विकट है और दिन अनुकूल है, जो अनेक शत्रु राजाओं की सेनाओं से घिरा हुआ है किन्तु अपने स्वदेश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये उसने महलों के सुख को तिलांजलि देकर कठिन पर्वतों में भी रहना स्वीकार किया है।

माई एहड़ा पूत जण,
जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओमकै,
जाण सिराणैं सांप॥

हे माता! राणा प्रताप जैसे स्वदेश-प्रेमी, स्वतंत्रता के दीवाने सपूत को जन्म दे। अकबर राणा प्रताप को अपने सिरहाने का सांप समझता है और इसीलिये नींद में भी चौंक पड़ता है।

ऐसे स्वदेशभक्त, स्वतन्त्रता की वेदी के दीवाने महाराणा प्रताप की मृत्यु के समाचार जब अकबर के दरबार में पहुंचे तो अकबर की आंखें भी दुख से

अश्रु विगलित हो गई। राजस्थानी के प्रसिद्ध राष्ट्रधर्मी कवि दुरसा आढा संयोग से उस समय वहा विद्यमान थे। अकबर की उस समय की मनोदशा का चित्र दुरसाजी ने अपने एक कवित्त मे अंकित किया है—

अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी ।
गो आडा गवड़ाय, जिको वहतो धुर वामी ।।
नवरोजे नह गयो, न गो आतसां नवल्ली ।
न गो झरोखा हेठ, जेथ दुनियाण दहल्ली ।।
गहलोत राण जीतो गयो, दसण मूंद रसणा डसी ।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत प्रतापसी ।।

हे गेहलोत वंशी राणा प्रताप ! तेरी मृत्यु पर बादशाह अकबर ने दातो बीच जीभ दबाई और विश्वास के साथ आंसू टपकाये क्योंकि तूने अपने घोड़े को कलंक नहीं लगने दिया, अपनी पगड़ी को किसी दूसरे के सामने झुकाया नही। तू अपने देश के गौरव-गीत अमर कर गया, तू अपनी मातृभूमि (राज्य) के धुरे को बायें कंध से अकेला ही चलाता रहा। तू नौरोज मे नही गया, न ही शाही डेरों मे गया, न कभी तू शाही झरोखो के नीचे खड़ा रहा। तेरा रोब सारी दुनिया पर गालिब था। हे प्रताप ! तू सब प्रकार विजयी हो गया।

सम्राट अकबर की सेनाओं ने चित्तौड़ के किले को घेर लिया था। उस समय वीर जयमल किले की रक्षा के लिये नियुक्त थे। इस वीर की वीरता के समक्ष अकबर की सेनाओं की दाल नही गली थी। मातृभूमि के गौरव पर मिटने वाले जयमल प्राणों की बाजी लगाये अटके बैठे थे। तब कूटनीतिज्ञ अकबर ने जयमल को कहलवाया कि यदि आप हमे चित्तौड़ का गढ सौंप दें तो हम आपको ही यहां का सूबेदार बना देंगे। जयमल ने इसका बहुत ही सुन्दर और मार्मिक उत्तर भेजा था। एक राजस्थानी कवि ने उसे इस प्रकार कविता-बद्ध किया है—

जैमल लिखै जवाब जद,
सुणजै अकबर साह ।
आण फिरै गढ ऊपरां,
तूटां सिर पतसाह ।।
है गढ म्हारो हूं धणी,
असुर फिरै किम आण ।
कूंची गढ चित्तौड़ री,
दीधी मुझ दिवाण ।।

हे शाह अकबर ! सुनिये, मेरे सिर के टुकड़े-टुकड़े होने पर ही आपका इस किले पर अधिकार हो सकता है और आपने जो यह कहलवाया कि चित्तौड़ का गढ़ तुम्हें सौंप दूंगा और यहां का सूबेदार बना दूंगा तो चित्तौड़ किसी अन्य का थोड़े ही है, यह तो मेरा ही है। चित्तौड़गढ़ की रक्षा के लिये आहूत होने की कामना कितनी पूत और वन्दनीय है।

बाबर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कामरान लाहौर का शासक बन बैठा था। बीकानेर के नरेश राव जैतसी को अपने अधीन करने के लिये उसने बीकानेर पर आक्रमण कर दिया। राव जैतसी किले की रक्षा का भार अपने कुछ योद्धाओं को सौंप कर युद्ध भूमि में आ गया। यह स्वदेश के स्वाभिमान और एक वीर राजपूत की स्वतन्त्रता का प्रश्न था। दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। राव जैतसी की इसमें विजय हुई। मुगल सेना को प्राण बचाकर लाहौर की ओर भागना पड़ा। इस प्रसंग का एक छन्द आज भी प्रचलित है—

संघारि मीर मुगलां साख।
लाहउरि गयउ मेराधि लाख॥
मुरधरा बधिय उच्छव महाण।
सिवहरिय गयउ धरि खुरासाण॥

हे मरुधर ! आज उत्सव मनाओ क्योंकि खुरासान के आक्रमणकारी कामरान के मुगल सैनिक आज परास्त हो अपने प्राण बचाकर लाहौर की तरफ भाग रहे हैं।

गदरकालीन राजस्थान का इतिहास भी ऐसे कई सामन्तों से ओतप्रोत है जो राजस्थानी वीरों, देश भक्त सामन्त सरदारों और स्वतंत्रता-प्रेमी कतिपय नरेशों के जीवन-प्रसंगों से सम्बद्ध है। यह सत्य है कि राजस्थान का पतन यहां के नरेशों और सरदार सामन्तों की पारस्परिक फूट के कारण हुआ किन्तु जातीय अभिमान और देशभक्ति का भाव इनमें से पूर्णतः रिक्त नहीं हो गया था। स्वदेश प्रेम और स्वतंत्रता के दीपक को वे हर कीमत पर जलाये रखना चाहते थे। पारस्परिक फूट और कलह, घोर नैतिक पतन और आर्थिक दुरावस्था के बावजूद भी ऐसे नरेश थे जो अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का डट कर मुकाबिला कर रहे थे। अपनी मातृभूमि को वे किसी भी दशा में गुलाम नहीं होने देना चाहते थे। भरतपुर का राजा, आउवा ठाकुर कुशालसिंह, कोठारिया रावत जोधसिंह, महाराजा मानसिंह, साधूसिंह देवड़ा, उमरकोट का सोढ़ा रतनराणा आदि ऐसे ही स्वदेश भक्त वीर थे जिन्होंने अंग्रेजों की शक्ति से टक्कर लोहा लिया। राजस्थानी कवियों ने इन वीरों

की कीर्ति को अपने काव्य के द्वारा अमर कर दिया। राजस्थान के लोक-साहित्य में तो इन वीरों को गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ है।

भारत के तत्कालीन वायसराय सन् 1831 में जब अजमेर आये तो उनके सम्मान में एक दरबार हुआ। राजपूताने के सभी राजा सामंतों के लिये वहां उपस्थित हुये। जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह एक सच्चे देशभक्त राजपूत वीर थे। हमारी स्वतंत्रता के दुश्मन अंग्रेजों के वे घोर विरोधी थे। पालिटिकल एजेन्ट सदरलैण्ड ने वहां उपस्थित राजाओं और सरदारों के सामने प्रस्ताव रखा कि यदि हम मानसिंह पर आक्रमण करें तो आप लोग किसका साथ देंगे? उस समय और लोग तो मौन रहे—साथीण ठाकुर शक्तिसिंह ने कहा कि हम उस स्वतन्त्रता-प्रेमी, देशभक्त मानसिंह के साथ ही रहेंगे। राजनैतिक षड्यन्त्र के द्वारा जोधपुर के किले पर अंग्रेजों की फौजों ने कुछ समय के लिये अधिकार कर लिया। वह वीर शक्तिसिंह दिवंगत हो चुका था। मानसिंह के साथियों ने धोखा दिया, वे अकेले रह गये थे। मानसिंह का स्वयं का कहा हुआ इस प्रसंग का दोहा आज लोक-प्रचलित है—

राणिया तळेटियां उतरैं,
राजा भुगते रेस।
गढ ऊपर गोरा फिरै,
सरग गयो सगतेस॥

इस प्रकार राजस्थान की वीर-प्रसू धरती शताब्दियों से स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करने वाले सपूतों को जन्म देती रही और उन वीरों ने अपने रक्त की लाल स्याही से इस प्रान्त के गौरवमय इतिहास के पृष्ठ लिखे हैं।

राजस्थानी लोकसाहित्य : कलापक्ष

'लोकसाहित्य' शब्द के पारिभाषिक अर्थ और क्षेत्र-विस्तार को समझ लेना उपयुक्त रहेगा । विद्वानो मे इस विषय को लेकर विवाद है । कुछ इसे लोकवार्ता का अंग मानते है और कुछ इसे स्वतंत्र विषय के रूप में ग्रहण करते है । यहा इतना अवकाश नही है कि इस विवादास्पद प्रश्न के विस्तार मे जाया जाय । 'लोकसाहित्य' शब्द से आज जो अर्थग्रहण होता है, उससे सभी विद्वान् एकमत हैं और वह है— 'वह भाषागत अभिव्यक्ति जिसमे लोकमानस के अवशेष विद्यमान रहते हों, जो परम्परागत और मौखिक-क्रम मे हो, जो किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर समूचे लोक का कृतित्व हो, जिसकी रचना व्यक्ति के अहंचैतन्य से प्रभावित न होकर लोक-मानस के सहज भाव से हुई हो' । ऐसी सम्पूर्ण सर्जना लोकसाहित्य के अन्तर्गत प्रतिष्ठित की गई है ।

यदि यहा संक्षेप मे 'लोक' शब्द के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को भी स्पष्ट कर लिया जाय तो लोकसाहित्य की कला के पक्ष पर विचार करना और भी सरल हो जायेगा । समाजशास्त्रियो ने 'लोक' का अर्थ और परिभाषा देते हुये स्पष्ट किया है कि 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है । इस परिभाषा के द्वारा अब यह पूर्णतः स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि लोकसाहित्य ऐसे वर्ग की भाव-सम्पदा और कृतित्व है जो परम्परा मे जीवित रहता है और जिसमे किसी भी प्रकार की शास्त्रीयता, पाण्डित्य अथवा आभिजात्य अहंकार नही हैं। ऐसे वर्ग का सृजन सर्वथा सहज और स्वाभाविक होगा । इस सृजन मे जो भी कला होगी वह सहजता और लोकहृदय के निर्मात्य से मण्डित होगी । शास्त्रीय कला की चमत्कारिता, वैचित्र्य, ऊहापोह और बुद्धिकौशल वहां नही होगे । इसलिये लोकसाहित्य की कला के मूल्यांकन के प्रतिमान वे नही हो सकते जो नागरिक साहित्य के लिये प्रयुक्त होते हैं ।

लोकगीत, लोककथायें, लोकनाटय, लोकगाथायें, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, पहेलिया, दन्तकथायें आदि लोक-साहित्य की विविध विधायें है । इनमें लोकहृदय नाना प्रकारेण अभिव्यक्ति पाता है । जब इस साहित्य के अन्तर

और बाह्य पर एक साहित्य-रसिक दृष्टिनिपात करता है तो उसे अनुभव होता है कि यह सम्पूर्ण साहित्य साहित्यशास्त्र के कला-बन्धनों से विमुक्त है। बिम्ब, प्रतीक, शब्द शक्तियां, रस, छन्द, अलंकार और नायक-नायिका-शास्त्र यहाँ अपना अर्थ उस रूप में नहीं पाते जिस रूप में उन्हें वह शिष्ट साहित्य में उपलब्ध है। यहां आचार्यत्व से मण्डित सम्पूर्ण कलाचातुरी पंगु है। लोकसाहित्य की रचना-प्रक्रिया में लोकमानस क्रियाशील रहता है, अतः वहां यदि किसी कला के दर्शन होते हैं तो वह लोकहृदय की सहजता, अकृत्रिमता, सरलता और सरसता की कला है। ढूंढने पर लोकसाहित्य में भाषा-शिल्प, अलंकार, छन्द आदि के दर्शन अवश्य हो जायेंगे किन्तु लोकसाहित्य में उन तत्वों की अवतारणा भी सहज रूप से ही हुई मिलेगी। इनके पीछे किसी प्रकार की चेष्टा अथवा प्रयोगका कष्ट नहीं है, न किसी साहित्य-सिद्धांत का आग्रह ही है।

लोकसाहित्य का माध्यम लोक की अपनी सहज और अकृत्रिम भाषा है। यह शुद्ध आत्मा से निसृत होती है और लोकहृदय की अनुभूतियों, संवेदनाओं और रसात्मकता को वाणी देती है। ससिम और अपरिमार्जित होते हुये भी लोकानुभूतियों के संवहन की इसमें अनन्त शक्ति रहती है। जीवन से दूर जाकर लोकसाहित्य की भाषा का अर्थ नहीं ढूंढा जा सकता। लोककाव्य में जो बिम्ब-विधान और प्रतीक-सौन्दर्य मिलता है, उसका आधार लोकगीत का प्रकृतिमय परिवेश ही है। राजस्थान के प्रसिद्ध लोकगीत 'पीपळी' बड़, नींबू आदि का पूरे परिवार के प्रतीकार्थ में चित्रण हुआ है। कृषि, पशुपालन, गांव, पर्वत आदि से ही उपमान लेकर लोकमानस ने उन्हें लाक्षणिक अभिव्यक्ति से सम्पन्न किया है। लोकसाहित्य की किसी भी विधा को ले लीजिये—गीत, कथा, लोकोक्ति, पहेली—सभी में उपमान, प्रतीक आदि के रूप में वे ही वस्तुपरक शब्द आते हैं जो लोकजीवन से सम्पृक्त है। इसीलिये लोकसाहित्य की प्रतीक और बिम्ब-योजना सरल और स्पष्ट है। लोकसाहित्य की भाषा का दूसरा गुण है उसकी कोमलता और कान्तता। यह भी वस्तुतः लोकजीवन की ही विशेषता है। गीतों में, लोकोक्तियों और पहेलियों में लोकनाट्य के पदों में इस कोमलकान्त भाषा-शैली के दर्शन किये जा सकते हैं।

लोकसाहित्य की भाषा की एक तीसरी विशेषता है उसका मुहावरों और कहावतों से पूर्ण होना। मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से अभिव्यक्ति में अर्थसम्प्रेषण की एक विशेष शक्ति और प्रवाह आ जाता है। एक छोटे-से मुहावरे अथवा कहावत का प्रयोग एक विशद भाव-भूमि को पूर्ण प्रभाव के साथ तत्काल स्पष्ट कर देता है। राजस्थानी लोकगीतों और कथाओं में लोक-भाषा की इस विशेषता को सर्वत्र देखा जा सकता है।

लोकगीतों के कलापक्ष पर जब दृष्टिपात करते है तो यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि इनका रचना-शिल्प किसी छन्दशास्त्र का अनुसरण नही करता। यहा भी रचना-प्रक्रिया की पूर्ण स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। तुक का भी कोई अनिवार्य बन्धन नही है। गीत मे चरणो की सम-संख्या का भी कोई आग्रह नही है। कोई गीत बहुत छोटा होता है जैसे बालकों के गीत और कोई गीत बहुत बडा होता है। गीत की प्रथम पंक्ति टेक होती है जिसकी पुनरावृत्ति गाते समय प्रत्येक दूसरे चरण के पश्चात् होती है। शास्त्रीय संगीत की भाषा मे इस 'टेक' को 'स्थायी' कहा जाता है। राजस्थानी लोकगीतो मे बीच-बीच मे दोहा और सोरठा का प्रयोग भी मिलता है। यह दोनों छन्द मात्रा-क्रम की दृष्टि से शास्त्रीय छन्द से भिन्न होते है। मात्रा-क्रम का सूक्ष्म अध्ययन करने पर भले ही कुछ अन्य शास्त्रीय छद-रूपो के मिश्रणो का इन लोकगीतों मे आभास मिल जाय, किन्तु इन गीतो की रचना-प्रकृति छन्दाधार को नही मानती, सागीतिक लय ही इनमे प्रमुख है। इसलिये लोकगीतों के रूप और शिल्प का अध्ययन सागीतिक दृष्टि से ही किया जाना चाहिये। वह भी शास्त्रीय सगीत नही, लोकसगीत शैली को ध्यान मे रखकर ही। इन गीतों की लय और ताल के रचना-विधान को तभी सही रूप में समझा जा सकता है।

लोकगीतों मे अलंकार-योजना और रस-परिपाक के दर्शन भी किये जा सकते हैं। उपमा, रूपक और श्लेष लोक के अधिक प्रिय अलंकार है, या यह कहिए कि इनके द्वारा लोक अपनी अभिव्यक्ति को अधिक सरलता से रसमय और सौन्दर्यमय बना सका है। राजस्थानी के 'मूमल' गीत मे उपमा-सौन्दर्य दृष्टव्य है। किसी रीतिकालीन आचार्य कवि की उपमायें भी यहा फीकी प्रतीत होती है। 'पीपळी' गीत का सागरूपक देखिये। वात्सल्य, प्रेम, विरह, रति आदि मानवीय भावों का जो सहज और मर्मस्पर्शी चित्रण लोकगीतो मे मिलता है, उसे देख कर कौन साहित्य और कला-रसिक मुग्ध नही हो जाता।

लोककथा की कला भी इसी प्रकार शास्त्रीय कहानी-कला से भिन्न है। मात्रा की दृष्टि से लोककथा, लोकसाहित्य का अत्यन्त समृद्ध अंग है। लोककथा के सम्बन्ध मे विद्वानों की धारणा है कि यह लोकमानस की मूल भावना के रूप को स्थूल प्रतीक से अभिव्यक्त करती है। लोकानुरंजन लोककथा का चाहे कभी मूल लक्ष्य रहा हो किन्तु लोककथा-साहित्य के अधुनातन वैज्ञानिक अध्ययन ने यह सिद्ध कर दिया है कि लोककथा की भावभूमि और शिल्प—दोनो अनेक महत्वपूर्ण साहित्य तत्वों को अपने मे समाविष्ट किये

हुए है। लोक-हृदय की सहजता में से भी एक कला उद्‌भूत हुई है। लोककथा के रूप-विधान और वस्तु-विन्यास पर विचार करने से कथाशिल्प को अनेक विशिष्टताओं का परिज्ञान होता है। लोककथा के मूल में कहने और सुनने का भाव है, पढ़ने का नहीं। इस मूलाभाव के अनुसरण में ही लोककथा का गठन और विन्यास होता है। कथा का वाचन करने वाला अथवा वार्ताकार सुन्दर दोहों और सोरठों से कथा को प्रारम्भ कर श्रोताओं की मानसिक भूमि तैयार करता है। रसमय वातावरण के निर्माण के साथ ही कथा प्रारम्भ हो जाती है। यह लोककथा की कला का अंग ही है। वटवृक्ष की दूरगामी शाखाओं की भांति फिर मूल कहानी में से कहानी निकलती रहती है किन्तु मूल कथा के संगठन में व्याघात नहीं आता। लोककथा में घटना और वर्णन-तत्व का प्राधान्य रहता है। पर्व, त्योहार, यात्रा, युद्ध, ऐतिहासिक नगर, हाट, मेले, सामाजिक रीति-रिवाज आदि का वर्णन अत्यन्त रोचकता के साथ लोक-कथाकार करता है। बीच-बीच में दोहों और सोरठों के द्वारा कथा के अन्तराल में काव्यमयता की सृष्टि करता जाता है। कथा मानक और कथानक-अभिप्राय लोककथा के शिल्प और रूपविधान के विशिष्ट अंग हैं। लोककथा का अन्त किसी नीति वाक्य अथवा देवी-देवता या साधु-फकीर के आशीर्वाद में होता है—यह भी लोककथा की एक शिल्पगत प्रवृत्ति है।

लोकनाट्य भी लोकसाहित्य की एक अत्यन्त सशक्त विधा है। इसके शिल्प और रूप-विधान के सूक्ष्म अध्ययन से भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अनेक अंगों और तत्वों के उद्‌गम के रहस्य खुल जाते हैं। लोकानुरंजन ही इसका मुख्य प्रयोजन रहा है। इसीलिए ये संगीत और नृत्यप्रधान होते हैं। लोक राग-रागनियों और लोकनृत्यों की रसधारा का आनन्द लोकमंच पर लीजिये। लोकनाट्य का सम्पूर्ण नाटकीय कार्य-व्यापार संगीत और नृत्य के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता है। खुले रंगमंच पर यह नाटक पूरी रात चलते हैं और जन-समाज खुले प्रेक्षागृह में भाव-विभोर हुआ तमाम रात बैठा रहता है।

लोकोक्तियों और पहेलियों में लोकमानस के अभिव्यक्ति-कौशल के दर्शन होते हैं। लोक-व्यवहार के बहुरंगी रूप अत्यन्त संक्षेप में लोकोक्तियों में चित्रित होते हैं। इनमें शैली-वक्रता, रूपक, उपमा, उक्ति-सौन्दर्य आदि का बड़ा सुन्दर समाहार होता है। इन लोकोक्तियों की पृष्ठभूमि में कभी-कभी बहुत ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक, धार्मिक अथवा सामाजिक घटनायें होती हैं। ये छन्दमय भी होती हैं और गद्य में भी। लोक की गहन, मार्मिक अनुभूतियों

और लोकभाषा की हृदयस्पर्शी अर्थवत्ता के दर्शन इन लोकोक्तियो मे हो जाते है। पहेलियो के पीछे चमत्कार और बुद्धि-कौशल का भाव ही प्रमुख रूप मे रहता है। यह बुद्धि का व्यायाम है, इससे कुछ मनोरंजन भी हो जाता है। विरोधाभास और उलटवांसियों की छटा इनमे निहित होती है।

अन्त मे मैं अपनी प्रारम्भिक स्थापना को फिर दोहराऊं कि लोकसाहित्य का सम्पूर्ण कलापक्ष सहज और स्वाभाविक है। इसकी सर्जना और विन्यास मे किंचित् भी प्रयत्न और शास्त्रबोध नही है। इसका आकलन लोकहृदय के सहज भाव से ही किया जाना उपयुक्त है।

राजस्थानी लोक महाकाव्यों के नायक

स्पष्ट है कि लोक-रचनाओं से तात्पर्य लोकसाहित्य की कृतियों से ही लिया जायेगा। राजस्थानी लोकवाङ्मय महाउदधि के समान अगाध और अपार है। इसके कृतित्व का कोई ओर-छोर नही है। अलिखित अथवा मौखिक परम्परा मे जो साहित्य प्रतिष्ठित रहता है उसकी यह अनिवार्य नियति होती है। उसके ओर-छोर का पता लगाना असभव नही तो कठिन तो है ही। यद्यपि पिछले कई दशको से राजस्थानी लोकसाहित्य की विविध विधाओ के संकलन-संग्रह प्रकाशित हो रहे है, सहस्रों की संख्या मे राजस्थानी लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाटयो, लोकगाथाओ के सग्रह व ग्रन्थ आज मुद्रित रूप में उपलब्ध है फिर भी यह काम अपूर्ण ही है और हमेशा अपूर्ण रहेगा क्योकि लोक अनन्त है और उसकी मौखिक अभिव्यक्ति अनन्त है। अभी न मालूम कितना अमूल्य राजस्थानी लोकसाहित्य दूर-दूर ग्राम्यांचलो में बसे लोक के मानस व कण्ठ पर विराजमान है ! कितना मूल्यवान साहित्य काल का ग्रास हो गया होगा ! अस्तु राजस्थानी लोकरचनाओं के सम्पूर्ण लोकनायको की चरित्र-समीक्षा करना निश्चित रूप से असाध्य कार्य है। फिर लोककथाओ के अपने लोकनायक हैं, लोकगीतों के अपने लोकनायक है। इसी प्रकार लोकनाटयों के नायको का भी अभाव नही है। इस स्थिति में, मैं अपनी इस वार्ता में केवल राजस्थानी की कुछ अति लोकप्रिय लोकगाथाओ के लोकनायकों की ही चरित्र-समीक्षा प्रस्तुत कर रहा हू।

राजस्थानी लोकगाथाओं की एक सुदीर्घ परम्परा रही है—बगड़ावत, पाबूजी, गोगाजी, तेजाजी, डूंगजी जवारजी, निहालदे सुल्तान, ढोलामारू, जलाल-बूबना, नागजी, नागवंती सोरठ, गोपीचन्द भरथरी इनमें लोकप्रसिद्ध है। इन सभी लोकगाथाओं के नायक अपने काल के प्रसिद्ध लोकपुरुष रहे हैं। लोकनायकों के चरित्र व व्यक्तित्व मे मानवीय गुणों के साथ दैवी गुणो की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है। अपने इन उच्चकोटि के सामाजिक मूल्यो व दिव्य तथा अतिमानवीय तत्त्वो के कारण सामान्य जन के धरातल से ये ऊपर उठ जाते हैं। बगड़ावत के नेवाजी व देवनारायण, गोगाजी, पाबूजी, रामदेवजी, तेजाजी, हड़बूजी ऐसे ही लोकनायक है जिन्होने ब्राह्मण, गाय, भूमि, नारी के सतित्व व लोकधर्म की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया, जीवन तक दे दिया। अधर्मियों, डाकुओ, चोरों व लुटेरो से उन्होंने

युद्ध किया। दिये हुए वचनों की रक्षा व संकल्प-पूर्ति के लिए इन्होंने प्राण भी दे दिये। इन लोकनायकों के जीवन-चरित्र के विस्तार में जाने के लिए यहां अवकाश नहीं है। राजस्थान का लोकसमाज लोकदेवताओं के पवित्र आसन पर अधिष्ठित इन लोकनायकों के महान आदर्शमय जीवन व त्याग की गौरव-गाथाओं से परिचित है।

लोकमानस सदैव से शील, शक्ति और सौन्दर्य की अर्चना करता आया है। सौन्दर्य के साथ शील और शक्ति के समन्वय से उदात्त आदर्श की सृष्टि होती है। लोकनायक पाबूजी, गोगाजी व तेजाजी के चरित्र में हमें शील, शक्ति और सौन्दर्य के समन्वय के दर्शन होते हैं। आत्मसम्मान, शरणागतवत्सलता, वीरता, आर्तत्राण परायणता, सतपरता जैसे उदात्त गुणों का विकास लोकगाथाकारों ने अपने इन लोकनायकों के अनुपम व महत् चरित्र में दिखाया है।

डूंगजी-जवारजी भी राजस्थानी जन-समाज में लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। डूंगजी-जवारजी चाचा-भतीजा थे। इनकी वीरतापूर्ण गाथा आज भी भोपे रावणहत्था लोकवाद्य पर बड़े उल्लास के साथ गाते हैं और लोग चाव के साथ सुनते हैं। अंग्रेजों के निर्दय व दमनकारी शासन के विरुद्ध जनविप्लव की आवाज को बुलन्द करने वाले, उनकी छावनियां लूटने वाले, उनकी लौह-शक्ति का मुकाबला करने वाले ये राजस्थान के प्रथम वीर-पुरुष थे।

करमां लोगा नैं कांई लूटणो,
हळ खेती कर खाय।
मया भगतण का लूटणा,
करै मदद री आस।
तोड़ूं राज अंग्रेज का,
खंड खंड का माल।

इन पंक्तियों से डूंगजी-जवारजी के जीवन-दर्शन का अभिज्ञान हो जाता है। अंग्रेजों ने उन्हें डाकू-लुटेरा कह कर बन्दी बना लिया था किन्तु ये तो दरिद्रनारायण के मुक्तिदाता थे और लोक ने उन्हें वैसा ही सम्मान दिया।

बागड़ प्रदेश में प्रचलित एक और लोकगाथा है, गलालैंग। इस गाथा के नायक गुलाबसिंह हैं। जयसमन्द झील के पास सेराड़ ग्राम की एक छोटी-सी जागीर थी—गुलाबसिंह इसके स्वामी थे। मेवाड़ के राणा जयसिंह ने उन्हें यह जागीर दी थी। गुलाबसिंह ने अपने जीवन काल में कई महत्वपूर्ण युद्ध लड़े थे। युद्ध में ही इन्होंने वीरगति प्राप्त की। गुलाबसिंह का सम्पूर्ण जीवन

एक वीर योद्धा का जीवन रहा है। उनकी मृत्यु भी गौरवपूर्ण रही है। लोकनायक के साथ वे एक इतिहास-पुरुष भी हैं। कहते हैं जयसमन्द झील के निर्माण में इनकी प्रमुख भूमिका थी। जोगी लोग बड़ी सरल व करुण वाणी में गुलाबसिंह का चरित्र गाते हैं।

राजस्थान की प्रसिद्ध लोकगाथा 'निहालदे सुल्तान' एक ऐसे लोकनायक के रूप में राजस्थान में प्रतिष्ठित है जिनकी गौरव-गाथा लोकजीवन में कभी धूमिल नहीं होगी। सुल्तान एक अद्वितीय व अलौकिक वीर के रूप में चित्रित हुआ है। एक कहावत है कि वीर पुरुष का जन्म अलौकिक रूप में होता है। सुल्तान में सुन्दरता भी अद्वितीय थी। सुल्तान के सौन्दर्य के संबंध में एक पात्र के ये शब्द अत्यन्त सार्थक हैं 'आज इस बाग में एक ऐसा शख्स आया है जिसके सौन्दर्य को देख लेने पर नेत्र सार्थक हो जाते हैं, आँखें तृप्त हो जाती हैं। ऐसा सुन्दर व्यक्ति मैंने तो अपने जीवन में कभी देखा नहीं और न भविष्य में देखने की कोई उम्मीद है।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राम में जिस शील-शक्ति-सौन्दर्य के दर्शन किये थे वही मूर्ति लोकगाथाकार ने निहालदे सुल्तान के सुल्तान में देखी है। सुल्तान का चरित्र 'निहालदे सुल्तान' की लोकगाथा के घटना-व्यूह में से निःसृत होकर पूर्ण शोभा के साथ प्रतिष्ठित हुआ है। वह इतना सुन्दर है कि कामदेव भी उसके समक्ष हीन जान पड़ता है। वह इतना वीर है कि उसकी किसी से भी तुलना नहीं की जा सकती। उसने अपने जीवन में 52 साके अर्थात् युद्ध किये थे। वह शौर्य, साहस, पराक्रम, धर्म एवं उत्साह की साक्षात् मूर्ति है। सुल्तान महान् दानी है। वह हीरे और पन्ना का बाजार लगवा सकता है और इस बाजार को लुटवा भी सकता है। कोई भी याचक उससे माग कर विमुख नहीं होता—'सभा में बैठ के चूकूं ना दान' उसका व्रत है। वह सतवीर है। उसके सत के प्रभाव से गढ़ के कंगूरे झुक जाते थे। देवता पुष्प-वर्षा करते थे।

सुल्तान के चरित्र में लोकरंजनकारी समस्त गुणों का समावेश हुआ है। सुल्तान एक पत्नीनिष्ठ आदर्श पुरुष है। वह लोक में साहस एवं सद्गुणों का प्रेरक है। यही कारण है कि सुल्तान की गौरवगाथा अपनी पावन गरिमा के साथ लोकमानस में आज भी विद्यमान है।

निहालदे सुल्तान की भांति 'ढोला-मारू रा दूहा' भी राजस्थान की एक अति प्रसिद्ध लोकगाथा है। नरवरगढ़ के राजा नल का राजकुमार ढोला इस गाथा का प्रमुख नायक है। अपने धीरललित चरित्र के कारण ढोला कालान्तर में राजस्थानी समाज का लोकनायक बन गया है। वह कामदेव के समान सुन्दर व्यक्तित्व से विभूषित, पराक्रमी, धीरवीर, सौन्दर्य...

कर्तव्यनिष्ठा निए सद्गृहस्थी, कार्यनिष्ठ आदर्श प्रेमी के रूप में चित्रित हुआ है। वह मध्ययुगीन अभिजात वर्ग का युवक है—उच्चकुलीन राजजनोचित उत्कृष्ट गुणों से युक्त। वह वही लोकोत्तर पात्र नहीं है, इसी लोक का है। वह एक आदर्श पात्र है, उच्च कोटि का प्रेमी है, गुणग्राहक व कलाप्रिय धीर-ललित नायक है। राजस्थानी लोक-रचनाओं के इन लोकनायकों के क्रम में हम जलालबूबना के नायक जलाल, नागजी-नागवन्ती के नायक नागजी, गोरठ-बीजा के नायक बीजा के चरित्रों का भी संक्षेप में उल्लेख करना चाहेंगे। ये पात्र मानवीय प्रेम की पावनता के प्रतीक है। अपने प्रेम-पात्रों के लिए इन्होंने अपना जीवन-सर्वस्व दे दिया—मानवीय मूल्यों से ये कहीं पथ पतित नहीं हुये। शौर्य, साहस, धर्मपालन, सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करते हुए राजस्थानी प्रेमगाथाओं के ये नायक प्रेम की पवित्र वेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर देते है और अपने पीछे एक ऐसी पावन व प्रेरक चरित्र-परम्परा छोड़ जाते हैं जो प्रेमी-युगल के लिए ज्योति-स्तम्भ का कार्य करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि राजस्थान की लोकरचनाओं मे ऐसे चरित्र-नायक भरे पड़े है जो युग-युग तक लोकजीवन के प्रेरणास्रोत बने रहेंगे। लोकगाथाकार ने मानव चरित्र को अत्यन्त निकट से देखा-परखा था। वह स्वय सहज, सरल व सामाजिक नीति व मर्यादाओं से मण्डित था, अस्तु उसने लोकमंगल की रक्षा के लिए जिन चरित्रों की रचना की, विकास किया, वे भी धर्म-नीति व मर्यादा मे अनुशासित थे। यही आदर्श पात्र लोकनायक बने। ये लोकनायक यन्त्र व विज्ञान के इस अति आधुनिक युग मे भी लोक को आदर्श व मर्यादित जीवन की प्रेरणा दे रहे है।

राजस्थान की लोकसंस्कृति का स्वरूप

राजस्थान भारतभूमि का एक नवलखा हीरा है जिसका प्रशस्तिगान देश-विदेश के विद्वान आज तक करते आये हैं। इतिहास-ग्रन्थ इसकी कीर्ति-कथाओं से भरे पड़े हैं। प्रकृति की कृपा भी इस प्रदेश पर कम नहीं रही। आदिकाल से ही यह रंग-रूपमय रहा है। विधाता जिस प्रकार मनुष्य के रूप की रचना करता है, उसकी भाग्यलिपि लिखता है, उसी प्रकार राजस्थान को भी प्रकृति ने लालसाभरे मन से विनिर्मित किया। पर इस सुरंगी धरती के रूपसिंगार, नख-शिख सौन्दर्य को देखते हैं तो नेत्रों को एक विचित्र परितोष मिलता है, मन आनन्दित होता है। मखमल से कोमल यहां की बालुकामयी धरती का अनन्त विस्तार मिलता है—हेमरूपा बालुका; हरितिमामय भूखण्डों का भी यहां अभाव नहीं है। अरावली की लम्बी शृंखला राजस्थान के ओरछोर फैल इसकी शोभा को संवर्धित करती है, तो नदियां और घाटियां इसे अनूठी रूपराशि प्रदान करती हैं। इस प्रदेश के वृक्ष, पक्षी, पशु सब अपने आप में विचित्र हैं। यहां की ऋतुयें भी बहुत ही सौन्दर्यमयी—यहां की शरद ऋतु, ग्रीष्म, पावस सबका अपना रस और स्वाद है। इसे सुरंगी, रूपमयी कुछ भी कहो, यह राजस्थान की धरती है।

इस प्रदेश के तीर्थ, मन्दिर, नगर, धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व तो रखते ही हैं किन्तु वास्तुकला, चित्रकला और प्राकृतिक रमणीयता के कारण भी आकर्षण के केन्द्र बने हुये हैं। लाखों देशी-विदेशी पर्यटक इन स्थलों की यात्रा कर धन्य होते हैं। शूरता, वीरता और त्याग की कथायें—इस धरती का कण-कण कहता है, यहां का पत्थर-पत्थर मरण-गाथा का उद्घोष करता है।

इस प्रदेश के मनुष्य समुदाय, स्त्री-पुरुषों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो मन गर्व से फूलने लगता है, मस्तक अभिमान से उदग्र हो जाता है। यहां के स्त्री-पुरुष मोहक सौन्दर्य और व्यक्तित्ववान होते हैं—स्वस्थ, पुष्ठ और सुदृढ़ शरीर वाले, तीखे नाक नक्श, सम्मोहक रूपरंग वाले। देखते ही जैसे नजर लगे। रंगबिरंगे परिधानों और सोना-चांदी के आभूषणों में सज्जित-मण्डित सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। पर्व-त्योंहार अथवा विवाह आदि के अवसरों पर यहां की स्त्रियां नखशिख शृंगार कर जब घर से बाहर निकलती हैं तो लगता है कि साक्षात् लक्ष्मी-पार्वती अपनी सखी-सहेलियों के

साथ धरती पर अवतरित हुई हैं। इसी प्रकार पुरुष-समाज साक्षात् पौरुष का अवतार प्रतीत होता है। राजस्थान के गौरवमय इतिहास का निर्माण इन स्त्री-पुरुषों ने ही किया है। राजस्थान का इतिहास और साहित्य इस तथ्य का साक्षी है कि यहा के पुरुष और नारी दोनों ने अपने शील, चरित्र, वीरता, त्याग और मनुष्यता से इस प्रदेश का मुख उज्ज्वल किया है।

ऐसे प्रदेश की समग्र संस्कृति का विवेचन और निर्वचन करने के पूर्व संस्कृति शब्द के कई अर्थ मस्तिष्क मे आते हैं। इतिहासकार मानता है कि संस्कृति किसी प्रदेश के जनसमूह का मानसिक और कलात्मक विकास है। नृतत्वशास्त्री का कहना है कि इतिहास के दौर में किसी समूह अथवा जाति के जीवनयापन के तौरतरीके में जो विशेषता होती है, वह विशेषता ही संस्कृति है। संस्कृति कुछ तो प्रकट होती है और कुछ अप्रकट होती है। प्रत्येक संस्कृति मे मनुष्य की बुद्धि का विकासमान रूप दिखाई देता है। संस्कृति के कुछ आदर्श होते है, कुछ मूल्य होते है, कुछ परम्परायें होती है। ये आदर्श, मूल्य, परम्परायें हमें प्रेरणा देते हैं, भविष्य की पीढ़ियों को प्रेरणा देते है। सामाजिक व्यवहार, रीति-रिवाजो का निर्माण इन्ही आदर्शों से होता है। आदर्श, मूल्य और परम्परा संस्कृति के जीवन तत्व कहलाते है। इस अर्थ मे राजस्थान की संस्कृति के भी कई आदर्श, मूल्य और परम्परायें है। यह एक बात स्मरणीय है कि संस्कृति किसी परमात्मा की देन नही है। यह मनुष्य की स्वयं की रचना है। जीवन के लम्बे संघर्ष में मनुष्य ने कुछ अनुभव अर्जित किये, उनका निष्कर्ष ही संस्कृति है। सदाचार, सद्व्यवहार, सौन्दर्यचेतना संस्कृति के लक्षण है। यदि संक्षेप मे कहे तो संस्कृति मनुष्य के अन्तर्जगत का गुण-समूह है। ये गुण ही मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाते हैं। इन्ही संस्कारो और गुणों से मनुष्य मे सभ्यता और संस्कृति के निर्माण की क्षमता आती है। वह साहित्य की रचना करता है, कला की रचना करता है, धर्म और दर्शन की रचना करता है। भाषा, साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्र, वास्तुकला, त्योहार, पर्व, भक्तिभावना, मन्दिर, तीर्थ, पूजा-उपासना, सामाजिक रीतिरिवाज, परिवार, सम्बन्ध, अनुष्ठान—ये सब मनुष्य की संस्कृति के अंग-उपांग है।

स्पष्ट राजस्थान की संस्कृति के अटूट भण्डार मे ये सब अमूल्य रत्न भरे पटे हैं। जब हम राजस्थानी साहित्य पर विचार करते हैं तो विदित होता है कि राजस्थानी भाषा और उसके साहित्य की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। पिछले एक सहस्र वर्षों की लम्बी परम्परा मे कई भाषारूपों मे यहा साहित्य की रचना हुई। जैन साहित्य, चारणी साहित्य, सन्त साहित्य,

लोकसाहित्य की महान् कृतियाँ इस सत्य की साक्षी हैं। ग्रियर्सन, टैसटरी और जेम्स टॉड जैसे विदेशी उद्‌भट विद्वानों ने इस प्रदेश की भाषाओं और साहित्यधाराओं, कृतियों का गहरा अध्ययन किया और यह प्रतिपादित किया कि राजस्थानी भाषा और उसकी साहित्य-परम्परा न केवल प्राचीन है अपितु सुसमृद्ध, सम्पन्न और विकसित भी है। जैन विद्वानों के अनेक ग्रन्थ, रासो ग्रन्थ, चारण कवियों के प्रबन्ध काव्य, वचनिकायें, वीर, शृंगार और भक्ति रस की काव्यकृतियाँ आज भी राजस्थानी भाषा और साहित्य की अतीतकालीन गौरव-परम्परा के रत्न है। यह सब राजस्थानी संस्कृति के जीवन्त तत्व हैं। भाषा और साहित्य के बिना संस्कृति पूर्णतः अभिव्यक्ति नहीं पाती। जब हम राजस्थानी के वर्तमान साहित्य और भाषा-सामर्थ्य, उनकी संभावनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो बड़ा सन्तोष होता है कि यह युगधारा के साथ गतिमान है और राजस्थानी संस्कृति को नया रूपाकार दे रहे हैं।

पर्व, त्योहार, संस्कार, अनुष्ठान, मेले, उत्सव आदि पर जब दृष्टिनिक्षेप करते हैं तो लगता है कि राजस्थानी संस्कृति बड़ी आनन्दमयी है। बालक के जन्म से लेकर उसकी अन्तिम वेला तक सोलह धार्मिक संस्कारों का विधान हिन्दू संस्कृति में है। गर्भाधान, प्रसव, न्हावण, नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि सस्कार इस प्रदेश मे अत्यन्त उल्लास और हर्ष के साथ सम्पन्न होते हैं। इन मांगलिक अवसरों पर स्त्रियाँ लोकगीत गाती हैं, पूजा-अनुष्ठान करती है, सामूहिक प्रीतिभोजों का आयोजन होता है। वे रंग-बिरंगे परिधान और आभूषण पहनती है। इन सबमें राजस्थानी संस्कृति का सबल रूप प्रकट होता है। व्रत-त्योहार, उत्सव, मेला राजस्थानी लोकजीवन के अटूट अंग है। देवी-देवता, भूत-प्रेत, जादू-टोने में अटूट विश्वास यहाँ के लोकसमाज की विशेषता है। गांव, शहर, जंगल कहीं चले जाइये, जहाँ कहीं मनुष्य के पदचिन्ह पड़े हैं, यहां किसी-न-किसी देवी-देवता का स्थान, चबूतरा, मन्दिर अवश्य मिलेगा। आज भले ही लोक के इस सहज विश्वासी मन को पिछड़ेपन, अज्ञान और अन्धविश्वास की संज्ञा दी जाये किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। लोक सदैव प्रकृति के सान्निध्य में रहा है, उसके अनुभव नानारूप हैं। अपने मानसिक जीवन को आवश्यकतानुसार वह अपने विश्वास-जगत् की रचना करता आया है। लोक के व्रत-त्योहार, अनुष्ठान, पूजापाठ, धर्म-उपासना इसके प्रतीक है।

विक्रम सवत् के चैत्रमास से व्रत-त्योहार, मेले-उत्सव का सिलसिला प्रारम्भ होता है जो पूरे वर्ष चलता है। वर्ष मे शायद ही कोई ऐसा महीना

पड़ता हो जब कोई व्रत-त्योहार न पड़ता हो। इतना ही नहीं, शायद ही कोई ऐसा सप्ताह हो जिसमें कोई व्रत न होता हो। गणगौर, शीतला माता, नवरात्र, दुर्गापूजा, रामनवमी, अक्षयतृतिया, आंवला एकादशी, गंगा दशहरा, नाग पचमी, छोटी तीज, बड़ी तीज, रक्षाबन्धन, कृष्णजन्माष्टमी, ऋषि पचमी, अनन्त चतुर्दशी, श्राद्धपक्ष, दशहरा, शरदपूर्णिमा, करवाचौथ, धनतेरस, दीपावली, यमद्वितीया, गोपाष्टमी, संकटचौथ, मकर संक्रान्ति, बसन्त पंचमी, महाशिवरात्रि, होली — ये ऐसे प्रमुख व्रत-त्योहार हैं जो गांव-गांव, नगर-नगर में सामूहिक रूप में मनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त ग्यारस, अमावस्या, पूनम, अष्ठमी, सोम, मंगल, बृहस्पति, शनि, रविवार ऐसे दिन हैं जब अधिकांश स्त्री-पुरुष व्रत अथवा उपवास रखते हैं। ये सभी व्रत-त्योंहार लोक विश्वास के प्रतीक हैं। इन व्रत-त्योंहारों, उत्सवों पर मेले जुड़ते हैं, नाच-गान, रागरंग होता है। ये सब राजस्थान की रंगमयी संस्कृति के द्योतक हैं। भारतीय संस्कृति की आनन्दमयी धारा की ही राजस्थानी संस्कृति एक उपधारा है।

जीवन के दो पक्ष हैं—एक प्रवृत्ति का, दूसरा निवृत्ति का, एक सुख का, दूसरा दुख का। भारतीय संस्कृति मूलरूप से जीवन के प्रवृत्तिमूलक सुख पक्ष को महत्व देकर चलती है। यही राजस्थानी संस्कृति का मूल स्वर है। आशा, विश्वास और आस्था ही उसके जीवन-दर्शन हैं। एक राजस्थानी लोककवि ने इसी आस्था के जीवन-दर्शन को अपनी इन पंक्तियों में उजागर किया है—

> *निरभै मोजां मांण सिपाहिड़ा, कदैक डाळी झुक ज्यासी*
> *दुख रा दिन बीतैला सारा, सुख री घड़ियां आ जासी*

राजस्थान भारत भूमि का एक टुकड़ा मात्र नहीं है। इसकी प्राकृतिक सुन्दरता, इसका गौरवमय इतिहास, इसके नगर, तीर्थस्थल, भाषा, साहित्य, कला में, व्रत-त्योंहार, रीति-रिवाज, स्त्री-पुरुष, वेश-भूषा, जीवन-व्यवहार एक ऐसी सुदृढ गौरवमयी संस्कृति का निर्माण करते हैं जो भारत की सामाजिक संस्कृति का अंग होते हुये भी अपनी अलग पहचान बनाते हैं। रूपमय राजस्थान की संस्कृति यथार्थ में रंगमय व जीवन्त है।

सांस्कृतिक एकता के सोपान : राजस्थानी पर्व व त्योंहार

संस्कृति क्या है ? सांस्कृतिक एकता से क्या तात्पर्य है ? और फिर अन्त में सांस्कृतिक एकता की रचना-प्रक्रिया में पर्व व त्योहारों की क्या भूमिका है । ये तीन बिन्दु है जो मेरी वार्ता के मूलाधार है । इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों व नृतत्वशास्त्र के विद्वानों ने 'संस्कृति' शब्द को अलग-अलग अर्थ में परिभाषित किया है । इतिहासकार कहते हैं कि संस्कृति किसी मानव समूह अथवा देश का बौद्धिक अथवा कलात्मक विकास है । नृतत्वशास्त्री इतिहासकारों के इस अर्थ को स्वीकार तो करते हैं किन्तु वे केवल इसे ही सम्पूर्ण नहीं मानते । उनका मानना है कि संस्कृति नृतत्व का एक मूलभूत संबोध है । नृतत्वशास्त्र की दृष्टि से—'सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है । दूसरे शब्दों में, किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवनयापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं वे ही उस समूह की संस्कृति हैं । संस्कृति के कुछ पक्ष अभिव्यक्त और कुछ पक्ष अनभिव्यक्त होते हैं और उनमें बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों प्रकार के तत्वों का समावेश रहता है । प्रत्येक संस्कृति के अपने मूल्य और आदर्श होते हैं, उसकी कुछ प्रेरक मान्यतायें होती है । यही वे मूल्य, आदर्श व प्रेरक मान्यतायें हैं जो मनुष्य समाज को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते है । ये समाज-घोषित मूल्य अथवा मान्यतायें कहलाती है । इनके द्वारा सामाजिक व्यवहारों का नियंत्रण होता है, अच्छे कामों, रीति-रिवाजों का समर्थन दिया जाता है । ये आदर्श, मूल्य, प्रेरक सिद्धान्त और प्रेरक मान्यतायें संस्कृति के जीवन-तत्व की भांति होते है और उसके बाह्य उपकरणों को सम्बद्ध कर उन्हें अनुप्राणित करते है ।

किसी मानव-समूह अथवा देश की सांस्कृतिक एकता का निर्माण इन्हीं व्यापक जीवन-मूल्यों, आदर्शों, प्रेरक सिद्धान्तों व प्रेरक मान्यताओं से होता है । ये जितने सुदृढ़, व्यापक, उदार व चैतन्य होंगे, किसी देश अथवा मानव-समूह की सांस्कृतिक एकता उतनी ही सुदृढ, स्थिर व अविचल होगी ।

संस्कृति मनुष्य की अपनी रचना है, यह कोई उसे दैवी देन नहीं है । यह अनन्त काल से चली आ रही, मानव की संघर्षमय जीवन-यात्रा का, उसका

अपना मूल्यवान उपार्जन है। यह सब कुछ सहज रूप में अनायास ही उसे नहीं मिल गया। सौन्दर्य-शास्त्रियों ने मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना के अपेक्षाकृत विकसित और जटिल रूपों को संस्कृति का अनिवार्य चिन्ह माना है। इसके विपरीत नीतिशास्त्रियों ने सदाचार एवं सद्व्यवहार को संस्कृति के मूल लक्षणों के रूप में प्रधानता दी है। समाज-वैज्ञानिकों का मत है कि 'संस्कृति' मानव के आन्तरिक गुणों की द्योतक है। मनुष्य के ये आन्तरिक गुण मनुष्य को परस्पर निकट लाते हैं और उसे जोड़ते हैं। उसे एकता के सूत्र में बांधते हैं। मनुष्य को यह संस्कृति उसे समग्रता प्रदान करती है।

नृतत्वशास्त्री ब्रडार्क ने संस्कृति के कतिपय ऐसे सर्वसामान्य तत्वों व तथ्यों की सूची प्रस्तुत की है जो संसार के प्रत्येक मानव-समूह के जीवन में मिलते हैं। संस्कृति का एक जीवन्त लक्षण परम्परा है और दूसरा निरन्तर गति है। परम्परा के माध्यम से यह अतीत से जुड़ी रहती है और निरन्तर गत्यात्मकता के कारण यह वर्तमान तथा भविष्य में जीती है। जीवन्त संस्कृति कभी नवीन व आधुनिक को नहीं नकारती। संस्कृति के कुछ तत्व और तथ्य शाश्वत होते हैं और वे मानव-समुदाय को अथवा जाति व देश की एकता के सुदृढ़ सूत्रों में बांधे रखते हैं। काल के प्रहार, इतिहास के दुर्दान्त परिवर्तन, राजनैतिक व आर्थिक क्रान्तियां सतही तौर पर कुछ काल विशेष के लिये भले ही मानव समाज की जीवन-पद्धति को बाह्य रूप से प्रभावित-परिवर्तित कर दें किन्तु मनुष्य जीवन की जो अन्तर्धारा है, उसे वह नहीं छुपाते। यही हमें इतिहास के थपेड़ों को झेलते हुए, जीवित बनी रहने वाली सांस्कृतिक एकता के अमर तत्वों का अभिज्ञान होता है।

साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, संस्कार, सामाजिक रीतिरिवाज मानव-समाज अथवा किसी देश की संस्कृति के ऐसे ही तत्व व तथ्य हैं। उत्सव, त्योहार व व्रत भी इन्हीं तत्वों व तथ्यों के समान संस्कृति के आवश्यक अंग-उपांग हैं। ये तत्व मनुष्य के जीवन-व्यवहार के केन्द्र-बिन्दु में रहते हैं। इन्हीं केन्द्र-बिन्दुओं के चारों ओर भावनाओं, विश्वासों, अभिचारों व धार्मिक व्यवहारों का क्रमशः जाल फैलने लगता है और मनुष्य समूह रूप में स्वत: ही मन व आत्मा की एकता के सूत्रों में बंधने लगता है। यह संस्कृति ही मनुष्य को व्यक्ति इकाई की सीमित परिधि से हटाकर सामूहिक अथवा सामुदायिक बनाती है।

मैं अपने इस निबन्ध में संस्कृति के इन सभी तत्वों के विस्तार में नहीं जाऊंगा। त्योंहार और व्रत संस्कृति के मूल्यवान तत्व हैं—सांस्कृतिक एकता के निर्माण में इनकी क्या भूमिका रहती है? मैं केवल इतनी ही चर्चा यहाँ

करूंगा। और यह भी भारत भूमि के त्योंहारो व व्रतों के संदर्भ मे।

भारतीय संस्कृति का मुख्य तत्व उसकी धार्मिक परम्परा है। इस परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त के ऋषि के अनुसार यह हमारी मातृभूमि अनेक प्रकार के जन को धारण करती है। ये जन अनेक प्रकार की भाषायें बोलते हैं और नाना प्रकार के धर्मों को मानते हैं, जन की विविधता भारतीय जीवन का अविभाजी सत्य है। इसी के साथ भाषाओं के भेद और धर्मों के भेद जातीय जीवन की सामूहिक विविधता की ओर बढा देते हैं। किन्तु भारतवर्ष की अन्तरात्मा लोक की इस विविधता से कभी आक्रान्त नहीं हुई। यहां के मनीषियों ने विविधता के मूल मे छिपी एकता के इन तत्वों को खोजा जो हमारे देश की सास्कृतिक एकता को आज भी थामे हुये हैं। समन्वयात्मक दृष्टिकोण एक ऐसा ही तत्व है जो भारतीय संस्कृति की आत्मा है।

आर्य संस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, निषाद संस्कृति और किरात संस्कृति इन अनेक संस्कृतियो के समन्वय से इस देश की महान धार्मिक परम्परा का निर्माण हुआ। इसी धार्मिक परम्परा में हमारे व्रत और त्योहार आते हैं। हिमालय से लेकर दक्षिण के तमिल प्रदेश तक और बंगाल से लेकर गुजरात तक व्रतों और त्योंहारों की एक अविच्छिन्न परम्परा आज भी देश में विद्यमान है जो पूरे वर्ष चलती रहती है। देवी-देवताओं मे अटूट विश्वास, चाहे वे वैदिक देवता हों, चाहे लोक-देवी-देवता, भारतीय लोक की विशेषता रही है। भारत के किसी भी प्रदेश मे चले जाइये वहा प्रतिवर्ष समय-समय पर किसी-न-किसी देवी-देवता के मेले जुड़ते हैं और उत्सव होता है। लोकदेवताओं के प्रति जन का अटूट विश्वास है, उसे शास्त्रो मे व्रत या भक्ति कहा गया है। भगवद् गीता में भी देवी-देवताओं की पूजा-मान्यता के लिये 'व्रत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब देवी-देवताओं के प्रति इस प्रकार की भक्तिभावना का प्रदर्शन, उत्कण्ठा, उमंग व उत्साह के साथ होता है तो इसे त्योंहार अथवा उत्सव कहते हैं। इस प्रकार के सैकड़ों व्रत व त्योंहार हमारे देश में मनाये जाते हैं।

विक्रम संवत के प्रथम मास चैत्र से प्रारम्भ कीजिये—गणगौरव्रत, शीतलाष्ठमी, नवरात्रि, दुर्गापूजा, रामनवमी, गंगा दशहरा, नाग पंचमी, रक्षाबन्धन, कृष्ण जन्माष्टमी, अनन्त चतुर्दशी, श्राद्धपक्ष, विजय दशमी अथवा दशहरा, शरद पूर्णिमा, करवा चौथ, धन तेरस, दीपावली, अन्नकूट, यक्षद्वितीया, गोपाष्टमी, कार्तिक पूर्णिमा, संकटा चौथ, मकर सक्रान्ति, वसन्त पंचमी, महाशिवरात्रि, व्रत व वर्ष के अन्तिम मास फागुन मे होलिकोत्सव तक

भारतीय व्रत-त्योंहारों का यह सिलसिला फैला हुआ है। ये सब तो बड़े-बड़े व्रत-त्योहार हैं जिन्हें गांव-गांव व नगर-नगर में सामूहिक रूप में मनाया जाता है। इनके अतिरिक्त ग्यारस, अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी आदि के व्रत होते है जो किसी-न-किसी धार्मिक आस्था से जुड़े रहते हैं। इसी प्रकार मंगल, सोम, बुद्ध, शनि, रवि आदि वारों से जुड़े व्रत व उपवास होते हैं। संक्षेप मे यह कह सकते हैं कि भारतीय पचांग मे ऐसा कोई सप्ताह, पखवाड़ा अथवा महीना नही होता जिसमें कोई व्रत अथवा त्योहार नही होते। इन्हें अत्यन्त आस्था, उमंग व आनन्दमय मन से मनाया जाता है। जीवन का एक पक्ष दुख, असफलता, हताशा-भरा है तो दूसरा पक्ष सुख, आशा, आनन्द, सफलता व उत्साह-भरा है। भारतीय संस्कृति जीवन के इस दूसरे आशा व आनन्दमय पक्ष को महत्व देती है। हमारे वैदिक ऋषियों व जीवन-दर्शन के निष्णात मनीषियों ने शायद इसीलिये एक मानव-संस्कृति हमें दी—एक ऐसा जीवन दर्शन हमें दिया जो जीवन के आस्थामय व आनन्दमय पक्ष को ही महत्व देता है।

भारतीय संस्कृति की एकता इन व्रतों व त्योहारों में अनुस्यूत दिखाई देती है। इन पर्वों व त्योहारों के अवसर पर मन्दिरों, तीर्थस्थलों व धार्मिक प्रतिष्ठानों मे अपनी भाषा, वेशभूषा, खानपान, रंग व प्रदेश की विविधताओं को विस्मृत कर जन-समूह एकत्र होते हैं और अपनी आस्था, भक्ति-भावना अत्यन्त उत्साह और उमंग के साथ अपने आराध्य के प्रति निवेदित करते हैं। यह सिलसिला अनन्तकाल से चल रहा है।

भारत केवल भौगोलिक इकाई नहीं है। उत्तर व दक्षिण, पूर्व व पश्चिम दिशायें यहां तब अपना कोई अर्थ नहीं रखती जब तमिल प्रदेश का व्यक्ति कुम्भ पर्व स्नान के लिए हरिद्वार की हरकी पैड़ी पर आता है और उत्तर का व्यक्ति रामेश्वरम् अथवा तिरुपति बालाजी के दर्शन के लिये जाता है। वास्तव मे भारत एक सांस्कृतिक इकाई है और ये व्रत-त्योंहार इस सांस्कृतिक एकता के ताने-बाने के मूल सूत्र है।

राजस्थानी लोकजीवन में वैवाहिक रीति-रिवाज

'संस्कार' हिन्दू संस्कृति का प्रमुख अंग है। हिन्दू संस्कृति में षोड़स् संस्कारों की कल्पना की गई है। यह संस्कार भ्रूण के गर्भाधान से मरण-पर्यन्त की कालावधि तक विस्तृत हैं। हिन्दू शास्त्र संस्कार को जन के परि-शोधन और उसके व्यक्ति-विकास के लिए अनिवार्य मानते हैं। यही कारण है कि भारतीय पारम्परिक समाज में इन संस्कारों की स्थिति और मान्यता आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। विवाह की शास्त्रोक्त स्थिति एक 'संस्कार' के रूप में ही है। मानव समाज के विकास में विवाह संस्था का उदय किन कारक तत्वों से हुआ, इसके क्या रूपविधान रहे—इस इतिवृत्त में हम यहां नहीं जायेंगे। यह अवश्य है कि श्रुतियों-स्मृतियों ने सामाजिक आचार को सन्तुलित-नियमित किया। समाज की राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक स्थितियां भी प्रकारान्तर में हमारे जीवन-विधान को प्रभावित करती रही हैं। मानव जाति के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। विवाह-संस्कार भी इन स्थितिजन्य प्रभावों में से गुजरा है और कालान्तर में नानाविध परम्परायें, रूढ़ियां, रीतियां व रिवाज इसके साथ जुड़ गये हैं।

राजस्थानी संस्कृति और समाज मूलतः बृहद् भारतीय संस्कृति और समाज का ही अंग है। इसके जीवन की मूल धारा भारतीय ही है अतः इसे हम मूल जीवनधारा से पृथक् कर देखने-परखने का कोई एकान्त औचित्य मेरी समझ में नहीं आता। पर राजस्थान का प्राकृतिक परिवेश, इसका भूगोल और इतिहास निःसन्देह विशिष्ट हैं और यहां का समाज और लोक-जीवन इसकी अपनी उपज है, इससे इन्कार भी नहीं किया जा सकता। इसलिये यह एक इतिहास-सत्य है कि राजस्थान की अपनी एक एकान्त लोक-संस्कृति है और संस्कृतिजन्य संस्कारों तथा सामाजिक पर्वों को मनाने के उसके अपने रूप-विधान हैं।

हम यहां केवल *राजस्थानी लोकजीवन में वैवाहिक रीति-रिवाज* विषय पर ही प्रकाश डालेंगे। राजस्थान पूर्णतः कृषि व पशु-पालन-प्रधान प्रदेश रहा है। शताब्दियों तक यहां सामन्ती शासन-व्यवस्था रही। अस्तु, जब हम इस प्रदेश के लोकजीवन में प्रचलित संस्कारों, व्रतों, पर्वों के रूप-विधान पर दृष्टिपात करते हैं तो वे एक ओर तो कृषि-सभ्यता से प्रभावित दिखाई देते

है और दूसरी ओर दुर्दान्त सामन्ती संस्कृति से। इन दोनों के बीच कहीं धर्मशास्त्र के आवरण भी है। राजस्थानी लोकजीवन में विवाह संस्कार की भी यही स्थिति है—शास्त्र और लोक-परम्परा के बीच प्रवहमान।

'विवाह' शब्द का अर्थ है स्त्री और पुरुष विधिसंमत सहजीवन का वहन करें। यह केवल भारतीय संस्कृति में ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु विश्व की सभी संस्कृतियों में महत्वपूर्ण है। अपत्नीक पुरुष धार्मिक कर्मों को नहीं कर सकता। पितृऋण से मुक्ति के लिये भी विवाह आवश्यक माना गया है। ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ बन कर देवों के लिये यज्ञ तथा संतति उत्पन्न करना माना गया है। अतः वैवाहिक जीवन की अनिवार्यता प्रत्येक समाज के प्रत्येक युग में स्वीकार हुई है। विवाह चूंकि एक अर्थ में जीवनोत्सव है अतः इसके साथ अनेक मांगलिक अनुष्ठान और आमोद-प्रमोद के क्रियाकलाप जुड़ गये।

विवाह की भूमिका सगाई (वाग्दान) से बनती है। राजस्थानी लोकजीवन में सगाई के अवसर पर भी कई रीति-रिवाज होते हैं। वर व वधु का चुनाव हो जाता है व लेन-देन विषयक मुद्दे जब सामान्यतः आपस में तय हो जाते है, तब वधू पक्ष की ओर से उसके परिवार के कुछ विशिष्ट व्यक्ति मुद्दा लेकर वर के यहा जाते है। इसे तिलक अथवा टीका भी कहते है। इस अवसर पर वर के तिलक किया जाता है व उसकी गोद भरी जाती है। कोई सोने-चादी की रकम, नकद धनराशि के अतिरिक्त वस्त्र, मिठाई, फल आदि भी भेंटस्वरूप दिये जाते है। वर के परिवार के लोगों की मिलनिया की जाती है और उन्हे भेंट में रुपये दिये जाते है। आजकल सगाई के अवसर पर भी काफी धन खर्च होने लगा है। वर पक्ष की ओर से सगाई के अवसर पर जो लोग उपस्थित रहते हैं, वे एक प्रकार से इस उत्सव के साक्ष्य होते हैं। वर पक्ष के लोग भी इस अवसर पर वधू पक्ष के लोगो का उत्साह पूर्वक सम्मान करते है। सगाई के तत्काल पश्चात् वर पक्ष की ओर से वधू के लिये सुन्दर वस्त्र; कुछ आभूषण, मिठाई व फल भेजे जाते है—इसे पहरावणी, गोद भरना या चीकणी कोथळी कहते हैं। इसके पश्चात् पर्वों पर परस्पर उपहार भेजे जाते हैं।

जब विवाह की तिथियां पंडित को पूछ कर शास्त्रानुसार निश्चित हो जाती है तब राजस्थानी लोक समाज में रीति-रिवाजों धार्मिक विधिविधान का एक ऐसा लम्बा सिलसिला प्रारम्भ होता है जो पूर्णतः लोकनिष्ठ व लोकधर्मी है।

विवाह के इक्कीस या ग्यारह दिन पूर्व स्त्रियां मूंग हाथ लेती हैं। हरे

मूंग मांगलिक माने जाते है और विवाह में इनका प्रयोग भी खूब होता है इसलिये इनको बीनने के काम से विवाह की तैयारियां प्रारम्भ की जाती हैं। फिर शुभ मुहूर्त निकाल कर वर पक्ष के यहा लग्नपत्रिका अथवा छाटणा भेजा जाता है जिसमे वर पक्ष को विवाहार्थ बरात सजा कर आने का भाव-भरा आमंत्रण होता है। इसी दिन सम्बन्धियो, इष्टमित्रों को विवाह में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रण भेजे जाते हैं जिसे कुंकुमपत्री भेजना कहते हैं। सबसे पहले गणपति पूजा कर एक कुंकुमपत्री गणपति की मूर्ति के समक्ष पढ़कर सुनाते है। इसे गजानन न्योतना भी कहते है।

विवाह के 3, 5, 7, 9 अथवा 11 दिन पूर्व हळदहाथ लेते हैं। इस दिन वर-वधू को घी पिलाते हैं, उनकी पीठी करते है, स्त्रियां लगधण लेती हैं। इसी दिन, सोलह राखियां तैयार की जाती हैं जो बाद मे वर-वधू के बांधी जाती हैं। फिर गणेशजी और मायां के स्थान की स्थापना होती है। विवाह-विषयक सारे मांगलिक कार्य मायां के सामने ही सम्पन्न होते हैं।

इसके पश्चात् विवाह के दो-तीन दिन पूर्व वर-वधू की रात मे बिन्दोलियां निकलती हैं। स्त्रियां नाचती हैं और उवारणें लेती हैं। बिन्दोली के दिन ही, वर के दाहिने हाथ और पांव मे कांकण-डोरा बांधा जाता है। यह एक प्रकार का रक्षा-सूत्र होता है जिसके साथ अनेक लोकविश्वास जुडे हुए हैं।

विवाह की पूर्व सन्ध्या को चाक पूजन की रस्म पूरी की जाती है। स्त्रिया नये परिधान पहन कुम्हार के घर जाकर उसके चाक का पूजन करती हैं। उसी रात रातीजगा होता है। लोक देवी-देवताओं व पितरो की आराधना के गीत पूरी रात स्त्रियां गाती है और वर-वधू के सुखमय दाम्पत्य जीवन की कामना करती हैं।

बत्तीसी न्योतना; मायरा या भात भरना वर व वधू पक्ष के ननिहाल वालों से सम्बद्ध रिवाज है जिनका अर्थ है उनका विवाह के उत्तरदायित्व मे सहभागी होना। वर अथवा वधू के मां-बाप अपने ससुराल वालो के यहां जाकर विवाह के लिये उन्हें आमंत्रित करते हैं। वे लोग आकर मायरा या भात भरते है।

वर-यात्रा के समय वर को नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों व मंत्रोच्चार से सज्जित किया जाता है। अब वह बींदराजा है। इस अवसर की वर की वेशभूषा विशेष व प्रतीकात्मक होती है। वरयात्रा के समय नाना प्रकार के टोने-टमके व अनुष्ठान किये जाते है। वर को घोड़ी पर बैठाते हैं—घोड़ी की बाग वर का बहनोई या भाणेज थामता है। वर की मां वर की आंखों मे

काजल लगाती है, अपने स्तन से दूध पिलाने की क्रिया करती है। यह सब प्रतीकात्मक आचार है। सज-धज कर गाजे-बाजे के साथ बारात वधू के द्वार पर पहुंचती है। वहाँ बारात का भावभीना स्वागत होता है जिसे सामेळा कहते हैं। फिर वर के द्वारा वधू के द्वार पर तोरण व कलश-वन्दना होती है—स्त्रियाँ वर की आरती उतारती हैं। इस अवसर पर प्राचीन काल में भाटों व अन्य याचक जातियों द्वारा गोत्रोच्चार होता था जिससे उपस्थित लोगों को यह विदित हो जाता था कि दोनों उच्च-कुल हैं।

इसके पश्चात् वधू के तेल चढ़ाकर उसे पाणिग्रहण कर्म के लिये सज्जित किया जाता है। ब्राह्मण विधिवत् विवाह-मण्डप तैयार करते हैं। शुभ मुहूर्त पर विवाह-कर्म प्रारम्भ होता है। वर-वधू का हथळेवा जोड़ा जाता है, उनके वस्त्रों को परस्पर बाध कर गठजोड़ा किया जाता है, मंत्रोच्चार के साथ यज्ञ-वेदी के चारों ओर अग्नि की साक्षी में दोनों को सात फेरे खिलाये जाते हैं। यह शास्त्रोक्त सप्तपदी है। चार फेरों के पश्चात् वह पूर्ण पत्नी होकर पुरुष की पत्नी हो जाती है। यह शास्त्रोक्त तो है ही—राजस्थानी लोकगीत में भी इसे स्वीकारा गया है—

पहले फेरे बाबा री बेटी, दूजे फेरे भुआ री भतीजी।
तीजे फेरे मामा री भाणजी चौथे फेरे धी हुई पराई॥

सप्तपदी के पश्चात् हथळेवा छुड़ाया जाता है। वधू का पिता कन्या-दान करता है। फिर गाजे-बाजे के साथ वधू को जनवासे भेजते हैं। इसके पश्चात् जुआ-जुई खेलना, लोक देवी-देवता का पूजन इत्यादि कई विधि-विधान होते हैं। वधू के वरगृह आने पर उसका बड़े आनन्दोत्सव के साथ स्वागत होता है। यहाँ भी कई प्रकार के रीति-रिवाज सम्पन्न होते हैं।

राजस्थानी लोकजीवन में विवाह-विषयक रीति-रिवाजों की एक विस्तृत आचारसंहिता है जो गहरे लोकमानसीय प्रतीक-अर्थ रखती है। विवाह से सम्बद्ध प्रत्येक रीति-रिवाज के अनेक लोकगीत है, अनेक अनुष्ठान हैं। इनमें लोकहृदय के आनन्दमय आस्था-विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। संभवतः संस्कारों, व्रतों, पर्वों आदि से जुड़े ये रीति-रिवाज ही लोकजीवन की गति और चेतना हैं। यदि यह सब न हो तो जीवन कितना नीरस और अर्थहीन हो जाय।

राजस्थानी लोकनाट्य : ख्याल और मांच

राजस्थान का भूगोल क्योंकि वैविध्यमय है—इसलिये एक अन्तर्लयी एकता के बावजूद कतिपय सांस्कृतिक विभिन्नतायें भी इस प्रदेश में दिखाई देती हैं। इस प्रदेश के साहित्य, भाषास्वरूप, धार्मिक आस्थाओं, वेशभूषा, खानपान आदि में इस सत्य के साक्षात् दर्शन होते हैं। राजस्थानी लोक-साहित्य के शैली-शिल्प व विषय-वस्तु के सन्दर्भ में यह तथ्य और भी सही है। राजस्थानी लोकनाट्य जो लोकसाहित्य की एक अत्यन्त समृद्ध व सशक्त विधा है, उसमें यह तथ्य पूरी तरह उजागर हुआ है। पर मैं इन विभिन्नताओं को बहुरंगतायें कहना चाहूंगा क्योंकि ये आत्मगत न होकर, अधिकांश में बाह्य स्वरूपगत है। मैदान, पठार, पहाड़ और रेगिस्तान का भौगोलिक और प्राकृतिक परिवेश निश्चित रूप से अभिव्यक्ति के माध्यम, सम्प्रेषण की विधा और लोकरंगमंच के स्वरूप को प्रभावित करता है।

राजस्थानी लोकनाट्यों के शैलीस्वरूपों पर जब पृथक् से दृष्टिपात करते हैं तो हमें मुख्यरूप से इनके तीन भेद मिलते हैं। ये है—ख्याल, स्वांग और लीलायें। ये तीन भेद अपनी विषय-वस्तु के आधार पर भी पृथक्-पृथक् ही है। इन भेदों को नाट्यशिल्प और विषय-वस्तु के आधार-भेदों और उपभेदों में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये ख्यालों के उपभेदों को लिया जा सकता है। वे हैं—कुचामणी ख्याल, शेखावाटी ख्याल, मेवाड़ी ख्याल, किशनगढी ख्याल, जयपुरी ख्याल, नागौरी ख्याल, नौटंकी ख्याल, मांच के ख्याल, तुर्राकलंगी के ख्याल, अलीबक्शी ख्याल, हाथरसी ख्याल। पर मूलरूप में यदि प्रदेशगत शैलीभेद को हम भूल जायें, तो यह सब मारवाड़ी ख्याल है, जिन्हें हम अब राजस्थानी ख्याल कह सकते है। इतना अवश्य है कि इनमें केवल बोलीगत भेद ही नहीं है, शैलीगत भेद भी है। जैसे कुछ ख्यालों में पक्की गायकी को अधिक स्थान मिला है तो कुछ की गायकी सामान्य है। कुछ में वाद्यों और नृत्यों की बहुरंगता को प्रधानता मिली है। कुछ में विविध छन्दों और लोकधुनों की छटा की प्रधानता होती है तो कुछ में संवादों की मार्मिकता तथा चटकीले वस्त्राभूषणों की। किन्तु समग्र रूप में जब इन ख्यालों की कथावस्तु, भाषा, रंगशैली, रंगमंच, मंचरचना, साजसज्जा, वाद्य आदि पर विचार करते हैं तो उनमें एक अन्तरंग तात्विक एकता के सचित्र दर्शन होते हैं। इसलिये यदि इतने भेद बनाकर इनका अध्ययन न भी करें तो भी

राजस्थानी ख्यालों के मूल लक्षण और उनकी कला सम्पन्नता प्रकट हो जाती है।

यहा एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राजस्थान के इन लोकनाट्यो को "ख्याल" क्यो कहा गया। मेल से अपभ्रष्ट होकर ही राजस्थानी लोकभाषा मे यह "ख्याल" बना प्रतीत होता है। प्रारम्भ में "ख्याल" कल्पना और विचारों से उत्पन्न कवित्व-रचना का ही दूसरा नाम था। परन्तु जब से यह रंगमच पर खेल-तमाशे का रूप धारण करने लगा, यह खेल या "ख्याल" कहलाया। इन ख्यालों की परम्परा मध्यकाल मे खेले जाने वाले रास, चर्चरी, फागु आदि से मानी जाती है। सत्रहवीं शताब्दी में आगरा के निकट ख्यालो की एक लोकधर्मी परम्परा आरम्भ हुई। यही परम्परा 18 वी शताब्दी मे राजस्थान के रंगमचीय ख्यालों के रूप में परिवर्तित हुई जो आज अनेक रूपो मे राजस्थान के जन-जीवन को आल्हादित कर रही है।

इन ख्यालो को राजस्थान के विभिन्न भागों मे पृथक्-पृथक् नामो से सम्बोधित किया जाता है। खेल, तमाशा, सांग, संगीत, नौटंकी, मांच, रम्मत, रामत आदि नाम ख्यालों के लिये प्रयुक्त होते हैं। मेवाड़ मे ख्यालो के लिये रासधारी शब्द का प्रयोग होता है। इन मौखिक नामों के अतिरिक्त ख्यालों के लिये लिखित साहित्य में भी कुछ नाम पढ़ने को मिलते हैं। वे हैं नाटिक, ख्यावला, निसानी, लीला, लावणी, रसिया, कथा, कीर्तन, सिलोका, धमाल बहार, चरित्र, टप्पा आदि।

मांच भी इन राजस्थानी ख्यालों का एक भेद मात्र है। यह प्रथम से कोई लोकनाट्य विधा नही है। जिस प्रकार राजस्थान में लोकनाट्यों के लिये "ख्याल" शब्द का प्रयोग होता है, उसी प्रकार मध्यप्रदेश में लोकनाट्यों के लिये मार्च शब्द का प्रयोग होता है। मार्च मंच का अपभ्रंश है। राजस्थान में ये ख्याल अधिक लोकप्रिय रहे हैं। तख्तों के एक विशाल मच पर, क्योंकि यह लोकनाट्य प्रस्तुत होते है इसलिये यह मार्च कहलाते हैं। इनका आयोजन प्रायः मन्दिर के पास होता है। मच को फूल-पत्तों की वन्दनवारों से सजाया जाता है। मंच के आगे फर्श पर बिछात कर दी जाती है। इसके तीन ओर दर्शको के बैठने की व्यवस्था रहती है। मंच पर चढ़कर सूत्रधार स्तुतिपरक छन्द गाता है जिसे मंच पर खड़े अभिनेता दोहराते हैं। मंगलाचरण के रूप में सर्वप्रथम देवताओं की वन्दना की जाती है।

वीरता, प्रेम, भक्तिभावना, साहस आदि से सम्बन्धित कथायें इन ख्यालों की मुख्य कथावस्तु होती है। वीर दुर्गादास राठौड़, अमरसिंह राठौड़, राजा

हमीर, खींवजी-आभलदे, ढोला-मरवण, हीर-रांभा, भक्त प्रहलाद, डूंगजी-जवारजी ऐसे ही राजस्थानी ख्याल है।

इन ख्यालों का रंगशिल्प और मचन भी बड़ा सहज, सरल और रोचक होता है। इनमें एक खुलापन और आत्मीयता होती है। दर्शक और अभिनेता के बीच किसी प्रकार की दूरी और औपचारिकता नही रहती। एक विचित्र उन्मुक्तता के दर्शन इन ख्यालो के मंच पर होते है। इन लोकनाट्यों के निर्देशक, लोकनाट्यों के अखाड़ों के गुरु होते है। मंचन के समय ये अभिनेताओं को उनके पीछे-पीछे चलकर उनकी भूमिकाओ से सम्बन्धित संवाद पढ़कर सुनाते है जिन्हें अभिनेता अभिनयपूर्वक गाकर प्रस्तुत करते हैं। प्रदर्शन का सम्पूर्ण स्थल प्रेक्षागृह होता है। दर्शक मैदान में, चबूतरो पर अथवा घरों और दुकानों की छतों पर बैठकर लोकनाट्य का आनन्द लेते है। यह ख्याल लोक के पारिवारिक परिवेश मे देर रात से प्रारम्भ होकर, सूर्योदय तक चलते है। इनमें स्त्री-पात्रों की भूमिकायें भी पुरुष पात्र ही करते हैं। व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियो में भले ही कभी-कभी कोई लड़की स्त्री-पात्र की भूमिका में देखने को मिल जाती हो।

लोकनाट्यों की मूल प्रवृत्ति के अनुसरण में ये राजस्थानी ख्याल और मांच संगीत व नृत्यप्रधान होते हैं। प्रारम्भ में इन लोकनाट्यों में केवल नगाड़ों और तुरही का प्रयोग होता था, ढोल भी बजता था। फिर शहनाई का प्रयोग होने लगा। आजकल तो वायलिन, क्लार्नेट, हारमोनियम और सारगी का प्रयोग भी होने लगा है। जहाँ सुविधा है वहाँ माइक का प्रयोग भी होता है। अभिनेताओं के साथ मंच पर बैठे वादक भी संगीतात्मक संवादों की टेर मे सहायता देते हैं।

राजस्थानी ख्यालों व मांच नाटकों में संगीत की राग-रागनियां, काव्यशास्त्र के छन्द व नाट्यशास्त्र-प्रतीक विधान देखने योग्य है। कुछ लोकनाट्य तो ऐसे हैं जिनमें शास्त्रीय राग-रागनियों की प्रधानता मिलती है। कुचामन व चिड़ावा शैली के ख्याल ऐसे ही हैं। भारतीय छन्दो के साथ इनमें उर्दू की गजल, कव्वाली, शेर आदि का प्रयोग भी देखने को मिलता है। यही स्थिति राग-रागनियों की है। शास्त्रोक्त रागों के साथ लोकसंगीत की राग-रागनियो का समन्वय बड़ा सुखद लगता है। रंगमंच के निर्माण, दृश्यों के मंचन, पात्रों की वेश-भूषा और अभिनय में अनेक प्रकार के प्रतीकों का सार्थक प्रयोग इन लोकनाट्यों में हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि लोकनाटककार नाट्यशास्त्र से अनभिज्ञ नही है।

यहां इन राजस्थानी ख्यालों के भाषा-स्वरूप पर भी विचार करना उप-

युक्त लगता है। पश्चिमी राजस्थानी जिसे मारवाड़ी भी संज्ञा दी जाती है, शताब्दियों से इस प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। हाड़ोती, मेवाड़ी, मेवाती, जयपुरी, ढूंढाड़ी, मारवाड़ी आदि बोलियां इस प्रदेश में बोली जाती हैं। ये इस विशाल राजस्थान की बोलियां हैं। राजस्थान के लोकनाटय इस सत्य के साक्षी हैं। हां, उच्चारण-भेद के कारण भले ही हमें यह भाषागत भेद लगे किन्तु इन ख्यालों की मूल भाषा राजस्थानी ही कही जायेगी। इस राजस्थानी भाषा में उर्दू, फारसी शब्दों का प्रयोग भी धड़ल्ले से हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि लोकभाषा बड़ी उदार होती है—लोकहृदय बड़ा उदार होता है। राजस्थान में खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार के साथ इन राजस्थानी ख्यालों की भाषा में भी कुछ अन्तर आना प्रारम्भ हो गया है। पिछले 60-70 वर्षों की अवधि में जो ख्याल लिखे गये उनमें जब वे मंच पर प्रस्तुत होते हैं तब, खड़ी बोली का प्रभाव देखा जा सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी ख्याल अपने भाषास्वरूप में राजस्थान की भाषाई एकता का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। भाषा की जीवन्त प्रवृत्ति इनमें परिलक्षित होती है।

एक प्रश्न इन लोकनाटयों की विषयवस्तु व प्रदर्शन-स्वरूप को लेकर प्राय: उठाया जाता है। उठाने वाला वर्ग ही वह है जो नगर-सभ्यता व संस्कृति के आधुनिक बोध में रंगा है। और वह प्रश्न है आधुनिक जीवन में इन नाटकों की प्रासंगिकता का। यो प्रश्न का उत्तर विस्तार चाहता है किन्तु मैं अत्यन्त संक्षेप में ही कहना चाहूंगा कि ये लोकनाटय जहां हमें अपनी समृद्ध परम्परा से जोड़ते है वहीं मानव जीवन की जटिल समस्याओं का भी समाधान देते हैं और वह समाधान आज भी उतना ही अर्थमय है जितना अतीत में था। भाषाई एकता, साम्प्रदायिक एकता, इतिहास व संस्कृति-बोध के प्रति ये लोकनाटय इस रेडियो-सिनेमा व टेलिविजन के युग में भी हमें सार्थक व स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करते हैं। निश्चय ही ये ख्याल हमारी मूल्यवान सांस्कृतिक सम्पत्ति हैं।

राजस्थानी लोकरंगमंच-प्रासंगिकता

भरत ने लोकधर्मिता को लोकनाट्य का नियामक कहा है। यह लोकधर्मिता उसकी विषयवस्तु में भी होती है और उसकी मंचन पद्धति एवं प्रस्तुतिकरण में भी होती है। लोकजीवन उन्मुक्त और असीम है अतः लोकधर्मिता का भी कोई अनुशासन और शास्त्र नहीं है। मूल बात यह है कि लोकनाट्य लोकहृदय के हर्ष और उल्लास का अनुष्ठान है अतः उसकी अभिव्यक्ति, प्रदर्शन और प्रस्तुति में पूर्ण उन्मुक्तता स्वाभाविक है।

हमारा परम्परागत लोकरंगमंच हमारी अकूट संस्कृति का पुष्ट संवाहक है—हमारे लोक का हर्ष-विषाद, सुख-दुख, आशा-निराशा, आस्था-विश्वास इसमें निश्छल अभिव्यक्ति पाते हैं—यह लोक की शक्ति और उसका जीवन-संबल है। अतः इसके उपयोगितापूर्ण संरक्षण और विकास को लेकर तो शायद ही कोई विवाद हो। आदिम संस्कृति का जड़ और बासी अवशेष कह कर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्थापित व्यवस्था और तंत्र के प्रति अपनी अच्छी-बुरी प्रतिक्रियाओं को लोकमंच के माध्यम से ही जनसाधारण अभिव्यक्ति देता है।

पर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लोकनाट्यों की मंचन-पद्धतियों एवं प्रस्तुतिकरण पर जब हम विचार करते हैं तो अनेक प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। पहला प्रश्न तो यही कि पिछले कुछ दशकों में विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों एवं द्रुतगामी औद्योगिक विकास के कारण हमारे चिन्तन, भावबोध और सौन्दर्य-दृष्टि में पर्याप्त तब्दीली एवं अन्तर्विरोध आये हैं। तब लोकनाट्य अपनी परम्परागत विषयवस्तु और प्रस्तुतिकरण को लेकर हमारे हृदय और मानस को कहां तक छूते हैं और क्या और कितना सार्थक सम्प्रेषित करते हैं? प्रश्न यहां तक उठता है कि क्या इनमें आज स्वस्थ मनोरंजन की क्षमता भी अवशिष्ट रही है? यह बात केवल नगरसमाज के ही संदर्भ में नहीं कही जा रही है अपितु हमारे वर्तमान ग्रामीण समाज के संदर्भ में भी एक तथ्य है। संचार के नये साधन, औद्योगिक विकास, कृषि-क्रांति और आधुनिक शिक्षा ने इस समाज को भी पर्याप्त प्रभावित किया है और उसकी जीवन-पद्धति, दृष्टियाँ और रुचियां बदली हैं, बदल रही हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि इनकी मंचन-शैली और प्रस्तुतिकरण में युगा-

नुकूल परिवर्तन किया जाय तो वह किस दिशा में हो और कितना हो। और तीसरा प्रश्न यह भी उठता है कि समूची लोकनाट्य विधा को वर्तमान जीवन-सदर्भ मे प्रभावक उपयोगिता और सार्थकता कैसे दी जाय। इसी प्रकार के कुछ और भी स्थूल-सूक्ष्म प्रश्न उठ सकते हैं।

पहले कि इन प्रश्नो का उत्तर ढूंढा जाय, लोकनाट्यों की रूढ मचन-पद्धतियों एवं प्रस्तुतिकरण के स्वरूप पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना उचित रहेगा। महाराष्ट्र के तमाशा, गुजरात के भवाई और बंगाल के जात्रा को अपवाद रूप मे छोड़ दें क्योकि इनकी विषयवस्तु, मंचन एवं प्रस्तुतिकरण के शैलीशिल्प मे पिछले कुछ दशको में आधुनिक जीवन-सदर्भों के अनुकूल एक दृष्टि से युगान्तर आ गया है। शेष सभी प्रादेशिक लोकमंच अभी अपनी नाट्यरूढियों एव परम्पराओं से अभिशप्त है। नौटंकी, तुर्राकलंगी, रम्मत, मांच, यक्षगान, कुचिपुड़ी, अंकियानाट्य, तोरुकुभु मे किसी प्रकार के वृहद् परिवर्तन का आभास नही मिलता। यों यह आज भी लोकजीवन में प्रतिष्ठित हैं अतः इनकी सतही परिवर्तनशीलता स्वयसिद्ध है।

लोकनाट्यो की मचन-पद्धति एवं प्रस्तुतिकरण की सामान्य विशेषतायें ये है कि इनका रगशिल्प सहज और सादगी लिये होता है, ये सभी नाटक खुले रंगमंच पर होते हैं—इनके तीन अथवा चारो ओर दर्शक बैठते है, मंच पर पर्दों का प्रयोग नही होता, कोई दृश्य-योजना नही होती, न रंगरचना के विशेष उपकरण ही होते हैं। स्त्री पात्रो की भूमिका पुरुष पात्र ही प्रस्तुत करते है। स्थान-परिवर्तन अथवा काल-परिवर्तन की सूचना कतिपय कार्य-व्यापारो द्वारा दी जाती है। अनेक दृश्यो एवं घटनाओ को प्रतीको के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। मंगलाचरण से इनका प्रारम्भ होता है। नृत्य और संगीत लोकनाट्यो के स्थायी अंग हैं।

राजस्थानी लोकनाट्यों के एक विशेष प्रकार 'रावलो की रम्मत' का उदाहरण लेकर इसे विस्तार से समझा जा सकता है। रावल राजस्थान की एक कलाविद् जाति है जो मागनहार तो नहीं किन्तु चारणो की याचक है। इस जाति की उत्पत्ति की अनेक कथायें प्रचलित है। 13 वी-14 वी शताब्दी मे गुजरात में यह अवतरित हुई। फिर राजस्थान के विविध भागों मे यह फैली। आज बीकानेर, मेवाड़, शेखावाटी, किशनगढ़, मारवाड़ के कुछ गावों मे इस जाति के लोग विद्यमान हैं।

रावलों की रामत को शक्तियो का अखाडा कहते हैं। ये मुख्य रूप से अर्धनारीश्वर रूप—जोगमाया के स्तुतिपरक नाट्य प्रस्तुत करते हैं। अपने किसी चारण यजमान के आमंत्रण पर ही ये प्रदर्शन करते हैं। जब कोई

भक्त कहता है कि मैं देवी के पैर में घूंघरू बंधवाऊंगा तब तो रामत में नृत्य और राम का समावेश होता है और यदि कोई भक्त कहे कि मैं रात्रि जागरण करवाऊंगा तब केवल-केवल चिरजा (पवित्र गायन) गाई जाती है—तब नृत्य और रास नहीं होता। जोगमाया की चिरजायें गाना रावलों की रम्मत का मुख्य अंग है। लोकानुरंजन के लिए ये अन्य स्वांग यथा सेठ-सेठाणी, पठान, कान्हगूजरी, लक्खी बजारा भी प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इनका उद्देश्य हास्य-विनोद और अनुरंजन करना होता है पर इनमें इतने गहरे और व्यापक व्यंग-हास्य के नाटकीय तत्व नहीं होते कि दर्शक लोट-पोट हो जाय। रावलों की रम्मत मूलरूप से धार्मिक एवं जातीय अनुष्ठान से सम्बद्ध होती है इसलिए इसमें नाट्य के हृदयस्पर्शी स्वरूप का अभाव रहता है। इनके नृत्यों में बेताला उछलकूद और संगीत में बेसुरी चीखें अधिक होती हैं। स्त्री-कण्ठ की नकल करते हुए पुरुष पात्र अपनी आवाज को और भी विकृत कर प्रस्तुत करते हैं। संक्षेप में, रावलों की रम्मत का अभिनय पक्ष बड़ा उबाने वाला, नीरस और विद्रूप होता है।

गांव के किसी खुले चौक में अथवा चारणों की गढ़ी के आंगन में जाजम अथवा त्रिपाल पर बिना किसी आकर्षक रंगसज्जा के रामत प्रस्तुत की जाती है। प्रकाश-व्यवस्था उपलब्ध साधनों के अनुसार होती है। पात्रों की वेशभूषा अवश्य चटकीली होती है।

लकड़ी की मादळ, मंजीरे और थाळ मुख्य वाद्य हैं जो रामत के समय बजाये जाते हैं। वादक भी पात्रों के साथ-साथ गाते हैं। संगीत और काव्य के साथ इन रामतों में गद्यात्मक संवादों का पर्याप्त समावेश होता है। रामतों के गीतछन्द चारणी-काव्य परम्परा लिये होते हैं—इसका कारण शायद अपने यजमान राजस्थानी साहित्य के सृष्टा और मर्मज्ञ चारणों का निकट सान्निध्य है। इन रामतों की नाटकीय संरचना पर जब दृष्टिपात करते हैं तो लगता है कि इनमें वाचन तत्व को प्रधानता दी गई है और अभिनय तत्व गौण रखा गया है।

स्वांगों और झांकियों के बीच-बीच में विषयान्तर करते हुये अपने यजमानों, चारणों, का काव्यमय प्रशस्तिगान भी ये लोग करते रहते हैं। इन रामतों में दर्शक वर्ग की ओर से किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी, प्रतिक्रिया, वाह-वाह वर्जित है क्योंकि इनका सम्बन्ध धार्मिक अनुष्ठान के पवित्र अवसर से होता है।

सबसे विचित्र बात यह है कि रावलों की रामतों पर वर्तमान युग का किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा है। ये आज भी पूर्णतः रूढ़, परम्परागत एवं आधुनिक समाज के जीवन-संदर्भों से पूर्णतः असम्पृक्त हैं।

'रावनों की रामत' का उदाहरण देकर मैंने लोकनाट्यों की मंचन-पद्धति एवं वस्तुगत रूप को दर्शाया है। कमोबेश यही स्थिति अन्य लोकनाट्यों के रंगशिल्प की है। तो फिर हम पुनः उन प्रश्नों की ओर उन्मुख हों जो, निबन्ध के प्रारम्भ में मैंने उठाये थे। ये मंचन-पद्धतियां और प्रस्तुतिकरण आज कहां तक प्रभावशाली और नाटकीय दृष्टि से उपयोगी हैं? क्या इनको इसी रूप में रक्षा की जाय? आभिजात्य रंगमंच की प्रयोगधर्मा आधुनिक रंगशैलियों का उपयोग कर क्या लोकरंगमंच को अधिक प्रखर, जीवन्त और प्रभावशील नहीं बनाया जा सकता?

मैं व्यक्तिगत रूप से यह सोचता हूं कि लोकनाट्यों की रूढ़ मंचन-पद्धति और प्रस्तुतिकरण के अपने कुछ गुण, आकर्षण और उपयोगितायें हैं। दर्शक और अभिनेता के मध्य जिस प्रकार की आत्मीयता, अनौपचारिकता, सहज संवादात्मकता नाटक को रसग्राह्य और आस्वादयोग्य बनाने के लिए अनिवार्य होती है। वह इन मंचन-पद्धतियों और प्रस्तुतिकरण की कला में विद्यमान है। लोकनाट्य की सम्पूर्ण भूमि रंगस्थल और प्रेक्षागृह बन जाती है। अतः लोकनाट्य के रंगशिल्प की सहजता, अनौपचारिक और खुलेपन की पूर्ण सुरक्षा होनी चाहिए पर परम्परा की रक्षा के प्रति मोह में हम उपलब्ध वैज्ञानिक साधन-सुविधाओं का प्रयोग न करें, यह उचित नहीं। रंगदीपन, ध्वनि, दृश्यांकन, पात्रों की रूपसज्जा विषयक आधुनिक उपकरणों एवं विधियों का प्रयोग कर लोकरंगमंच को अधिक संवेद्य एवं प्रभावी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार स्त्री-पात्रों की भूमिका स्त्रियां ही प्रस्तुत करें—इस अस्वाभाविकता और भोंडेपन से लोकरंगमंच को तत्काल मुक्त किया जाना चाहिये।

इसी प्रकार लोकनाट्य के संरचना-शिल्प में भी रूपगत परिवर्तन अब आवश्यक प्रतीत होने लगा है। संगीत और नृत्य की अतिरेकता पर विचार किया जाना चाहिये—गद्य संवादों का प्रसंगगत आनुपातिक समावेश नाटकीय स्वाभाविकता और प्रभाव को बढ़ाने में सहायक होगा।

इस सारे प्रसंग में, मैं एक बात स्पष्ट रूप से कहना चाहूंगा कि यह परिवर्तन सतर्कता के साथ किये जायें—लोकात्मा और लोकरंग से यह च्युत न हो जायें। एक बात और, यह परिवर्तन लोकरंगकर्मी स्वयं करें, किसी बाह्य तत्र द्वारा यह उन पर थोपे न जायें।

राजस्थानी वीर-काव्य की परम्परा

लेख के प्रारम्भ में ही मुझे अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि ब्राउनिंग की एक कविता का स्मरण हो रहा है। उसका केन्द्रीय भाव इस प्रकार है :—

'जीवन भर मैं संघर्ष करता रहा हूं किन्तु मेरी अन्यतम इच्छा है कि मृत्यु ! जब यही तू आये, चुपके-चुपके आकर मेरा प्राणान्त मत कर देना। प्रत्यक्ष आकर मुझसे युद्ध करना। मैं तो जीवनभर जूझता ही रहा हूं, यह एक युद्ध और सही।' राजस्थान की धरती पर पैदा होने वाले शूरवीरों की जीवन-आकांक्षा भी यही रही है। वे जीवनभर जूझते रहे किन्तु मृत्यु के भय ने उन्हें कभी विचलित नहीं किया। मृत्यु को वे एक पर्व मानते रहे है। युद्ध उनके लिये क्रीड़ावत् व्यापार रहा है। अपनी पृथ्वी-माता की रक्षा के लिये हँसते-हँसते प्राण दे देना, रणबांकुरे राजस्थानी वीर अपना पवित्र धर्म समझते हैं। जीवन-सुखों की घोर उपेक्षा कर इन वीरों ने सर्वप्रथम समाज की मर्यादाओं, सांस्कृतिक मूल्यों और राष्ट्र की अखण्डता की सुरक्षा को प्रधानता दी है। इनके लिये पृथ्वी के इन सपूतों ने अपना सर्वस्व न्योछावर किया है।

पुरुषों के साथ यहां की नारियों का जीवन भी बलिदान की गौरव-गाथाओं से ओत-प्रोत रहा है। राजस्थानी नारी अपनी विविध भूमिकाओं मे (मां, बहिन, पत्नी) पुरुषों की प्रेरणा-बिन्दु रही है। अवसर आने पर शक्ति की साक्षात् अवतार बन कर अपनी तलवार उठाई है और आततायी विधर्मी शत्रु का संहार किया है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य की स्तुति और अभिवन्दना कई देशी-विदेशी विद्वानों ने भी की है। इसकी समस्त प्रवृत्तियां और धारायें, इसकी विराट् प्रतिमाएँ विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रशस्ति-प्रसूनों द्वारा अभिषेकित होती रही है। किन्तु वीर-रस राजस्थानी साहित्य की आत्मा है और इसीलिए इसकी विशेष प्रशस्ति भी हुई है।

जब हम राजस्थानी साहित्य के इतिहास पर विशेषकर मध्यकाल पर दृष्टिपात करते है तो विदित होता है कि डिंगल के कवियों ने युगधर्म के अनुकूल अपनी मर्यादा और दायित्व का अटूट निष्ठा के साथ निर्वाह किया है।

डिंगल के मध्यकालीन कवियों ने अपने कवि और योद्धा दोनों के ओजस्वी स्वरों मे जीवन की विघटक-शक्तियों एवं संस्कृति के शत्रुओं को ललकारा

है, दीन-हीन मानवता को संजीवन दिया है और जाति, धर्म तथा देश पर आहूत होने वाले नर-पुंगवों की कीर्ति के अमर गीत गाये हैं। कवि-कर्म और धर्म का औचित्य उनके साहित्य में प्रकट हुआ है।

हिन्दू जाति पूर्ण रूप से पराभूत हो चुकी थी। यवन साम्राज्य की अधीनता में घृणा के स्थान पर एक प्रकार के गौरव के भाव का अनुभव किया जाने लगा। राजपूत शासकों में परस्पर वैर, फूट और वैमनस्य का प्राबल्य था। दिल्ली के तख्त पर तब मुगल सम्राट् अकबर आसीन था। ऐसे लोग भी तब अवश्य हुये जो जीवनपर्यन्त दिल्ली के तख्त से टक्कर लेते रहे, स्वयं मिट गये किन्तु उन्होंने मुगल साम्राज्य के सम्मुख कभी भी मस्तक नहीं झुकाया। ऐसे ही यशस्वी पुरुषों में महाराणा प्रताप अपने जात्याभिमान, स्वदेश-प्रेम और स्वातन्त्र्योपासना के लिए विश्व-इतिहास में सम्मानित हुये हैं। राष्ट्रीय एकता का भारत में सर्वत्र लोप हो गया था। राजनैतिक दासता के साथ-साथ इस्लाम धर्म भी अंगीकृत किया जाने लगा था। यह स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय थी। चारण कवियों ने इस 'सांस्कृतिक और राजनैतिक आपद्-काल' में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। शौर्य, औदार्य, देश-प्रेम, आत्माभिमान, बलिदान, त्याग, ईश्वर-भक्ति आदि मानव-हृदय के उदात्त भावों से यह साहित्य ओतप्रोत है। बारहठ बारुजी सौदा (चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ) से डिंगल साहित्य के प्रारम्भ काल में राष्ट्रीय-कविता की जो धारा प्रवाहित है वह जमणाजी बारहठ, सूरायच टापरिया, राठौड़ पृथ्वीराज, दुरसा आढा, सांदू माला आदि में अपनी परम्परा को अक्षुण्ण रखती हुई आगे बढ़ती है। दुरसाजी इस धारा के मूर्धन्य कवि हैं।

मैं अपनी बात राजस्थानी वीर-रस के कुछ लोकप्रिय दोहों से प्रारम्भ करता हूँ—

नमस्कार सूरा नरां, पूरा सतपुरसांह
भारत गज घटा भिड़े, अड़े भुजां डरसांह
मरदा मरणा हक्क है, अब रहसी गल्लांह
सापुरसां-रा जीवणा, थोड़ा ही भल्लाह
घर जातां ध्रम पळटतां, त्रिया पड़तां ताव
ये तीन्हूं दिन मरण रा, कहा रक कहा राव

उपरोक्त दोहे राजस्थानी वीरकाव्य के अमृतकोश के कतिपय मणिदीप हैं। इन्हें राजस्थानी वीरों के आप्त वाक्य कहा जा सकता है। उनका समूचा जीवन-दर्शन, जीवन-लक्ष्य इनमें अभिव्यक्ति पा गया है। राजस्थानी वीर

काव्य की विषय-वस्तु का विश्लेषण-विवेचन करने पर एक सत्य अवश्य उभर कर आता है और वह यह कि यह सम्पूर्ण काव्य सामन्तकालीन आशाओं और विचारधारा का पोषक है। स्त्री और सम्पत्ति के लिए तो युद्ध होते ही रहे हैं किन्तु भूमि के लिए हुए युद्धों से भी राजस्थान का सम्पूर्ण इतिहास भरा पड़ा है।

मैं समझता हूं, वीर भावना एक शाश्वत भाव है और मानव जाति को इसकी प्रत्येक काल में आवश्यकता रहती है। वीर और साहस का भाव हमारी अस्तित्व-रक्षा का आधार है। इसी प्रकार भूमि का भाव भी मानवजाति के साथ अपरिवर्तनीय रूप से सम्बद्ध है। भूमि उसकी आशा, आकांक्षा, स्वप्नों का प्रतीक और लीलास्थली है। जीवन का सम्बन्ध जैसा देह से है वैसा ही भूमि से है। भूमि से मानवजाति असम्पृक्त कैसे हो सकती है?

वीररसात्मक साहित्य राजस्थान के सहज जीवन की अभिव्यक्ति है। मृत्यु के साथ खेलने वाले वीरों का साहित्य है और ऐसे कवियों द्वारा रचा गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष मृत्यु का आह्वान कर लोहे से लोहा बजाया था। अंग्रेज इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड इस उत्सर्गमयी धरती के इतिहास के स्वर्णिम पन्नों को देख कर कह उठे—'राजस्थान की भूमि में ऐसा कोई फूल नहीं उगा, जो राष्ट्रीय वीरता और त्याग की सुगन्ध से भरकर न झूमा हो, वायु का एक भी झोंका ऐसा नहीं उठा जिसकी झंझा के साथ युद्ध देवी के चरणों में साहसी युवकों का प्रयाण न हुआ हो।'

राजस्थानी वीरकाव्य विषयवस्तु व काव्यकला दोनों ही दृष्टियों से अपनी कई एकान्त विशेषताएँ लिये हुए है। इस काव्य में नारी एक प्रेरणादायी शक्ति के रूप में चित्रित हुई है। अवसर आने पर वह स्वयं चामुण्डा बन, तलवार हाथ में लेकर युद्धभूमि की ओर प्रस्थान करती है। तब वह बीस भुजा वाली सिंहवाहिनी बन जाती है—

> धड़के दाढ वराह, कड़के पीठ कमठ्ठ री।
> धड़के नाग धराह, बाघ चढे जद बीस हथ॥

राजस्थानी वीर के लिये मृत्यु त्योंहार है और मृत्यु से डर कर युद्ध से पलायन करने वाले कायरों की भर्त्सना राजस्थानी काव्यों में अद्भुत है—

> मरै वीर कायर मरै, अन्तर दोनां एक।
> माटी में कायर मिलै, धरै सूर जस देह।

धरती और मातृभूमि के प्रति जो स्नेह, सम्मान व आत्मसमर्पण का भाव राजस्थानी वीरकाव्य में दिखाई देता है, वह विश्व साहित्य में कही नहीं मिलता। यहां की वीर माता अपनी सन्तान को स्तनपान के साथ 'इळा

न देणी आपणी' की अमृत-घूंटी पिलाती है। धरती नववधू के समान है और उसे कोई वीर ही भोग सकता है—'वसुधा वीरा री वधू, वीर तिको ही वींद।'

ईसरदास, बांकीदास, सूरजमल आदि वीररस के सिद्ध कवियों ने अपने काव्य मे वीर और शृंगार दोनो रसों का साथ-साथ निर्वाह कर उत्साह को उद्दीप्त किया है। उदाहरणार्थ कुछ छन्द नीचे दिए जा रहे है —

सेल घमोड़ा किम सह्या, किम सहिया गज दंत।
कठिन पयोहर लागतां, कसमसतो तू कंत॥
मैं परणती परखियो, सूरति पाक सनाह।
घड़ि लड़िसी, गुड़सी गयंद, नीठि पड़ेसी नाह॥

काव्यकला की दृष्टि से भी राजस्थानी वीरकाव्य उत्कृष्ट है। दोहा, कवित्त, कुण्डलिया, गाहा, भुजंगप्रयात, त्रोटक, झूलणा, निसाणी आदि राजस्थानी वीरकाव्य में प्रयुक्त होने वाले प्रधान छन्द है। किन्तु गीत छन्द का भी सभी वीरकाव्य के रचयिताओं ने प्रयोग किया है। सतसईकारों ने दोहा और सोरठा छन्द को अपनाया है। इसी प्रकार यद्यपि राजस्थानी वीर-काव्य मे अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है किन्तु वयण सगाई का प्रयोग किसी-न-किसी रूप मे सभी कवियों ने किया है।

वीररस के परिपाक के लिये विशेष प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है। सामान्यतः इसके लिये ओजपूर्ण शब्दो की आवश्यकता होती है। इसलिये सभी वीरकाव्य के रचयिताओ ने वीररस के अनुकूल ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग अपने काव्यो मे किया है।

राजस्थानी वीरकाव्य की परम्परा बड़ी लम्बी है। पिछले एक हजार वर्षो के राजनैतिक घटनाचक्र के दर्शन इस काव्य में होते है। राजस्थानी कवि कभी भी अपने कविधर्म से च्युत नही हुये। स्वतन्त्रता संग्राम के समय निर्भीक होकर उन्होंने विदेशी सत्ता के विरुद्ध जनचेतना का काव्य लिखा। सूर्यमल्ल मिश्रण की वीर सतसई की रचना की पृष्ठभूमि में ऐसी ही राजनैतिक परिस्थितियां रही है। महाकवि बांकीदास रचित अनेक दोहे व छन्द इस तथ्य के प्रमाण है।

बारहठ केसरीसिंह आदि की रचनाएँ स्वातंत्र्यभाव से ओतप्रोत हैं। गणेश 'उस्ताद', रेवतदान चारण 'कल्पित' आदि ने इस राजस्थानी वीरकाव्य धारा को नूतन जनचेतना से आवेष्टित कर वाणी की इस भागीरथी की अर्चना-वन्दना की। राजस्थानी साहित्य की यह वीर-वाणी सदा अमर रहेगी।

राजस्थानी कविता की नयी धारा

'राजस्थानी कविता की नयी धारा' के स्वरूप की विवेचना के पूर्व मन में कुछ प्रश्न आकस्मिक रूप में उठ खड़े होते हैं। एक प्रश्न तो यही कि क्या आधुनिक राजस्थानी कविता इतनी मात्रा में और इतनी नई काव्यविधाओं में सृजित हो गयी कि उसके सृजन-रूप की समीक्षा और मूल्यांकन आधुनिक समीक्षा-प्रतिमानो से किया जा सकता है ? दूसरा प्रश्न यह, जो बुनियादी भी है कि लम्बी सामन्ती परम्परा और तंत्र से सम्बद्ध साहित्यिक और सांस्कृतिक विरासत ने जो राजनैतिक और सामाजिक परिवेश राजस्थानी के नये कवियों को दिया, क्या वे उससे समग्रतः टूट सके और समसामयिक साहित्यिक चिन्तन से जुड़ने की उनमें सामर्थ्य कितनी थी ? और एक तीसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कि राजस्थानी एक लोकभाषा है, उसकी साहित्य-रचना की एक दीर्घ परम्परा रही है, उसके अपने समीक्षा-प्रतिमान रहे हैं। अब जो नया काव्य सृजन हो रहा है उसकी समीक्षा-दृष्टि क्या होनी चाहिये ? यह कुछ बुनियादी और महत्वपूर्ण प्रश्न है जिनके परिप्रेक्ष्य में ही राजस्थानी की आधुनिक कविता का युक्तिसंगत विवेचन किया जा सकता है।

राजस्थानी का प्राचीन व मध्यकालीन काव्य तो विपुल और अथाह है। उसमें काव्यरूपों की विविधता है और काव्यकला की दृष्टि से वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु काल व द्विवेदी काल की हिन्दी कविता में नव जागरण, समाज-सुधार, देशभक्ति और राष्ट्रीयता की जो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है उनका कुछ प्रभाव इस काल मे रचित राजस्थानी कवियो की कविता मे दिखाई देता है। यद्यपि यह प्रवृत्तियाँ अधिक मुखर नही हो पाई। पर इतना स्पष्ट है कि राजस्थानी कविता मे इस काल में कुछ बदलाव के लक्षण दिखाई देने लगे थे। स्वतंत्रता-संग्राम के काल में देशभक्ति, जातीय प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना ने अधिक ज़ोर पकड़ा और स्वातंत्र्य का स्वर राजस्थानी कविता में भी प्रखर होने लगा।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् और विशेषकर पिछले दो दशकों में राजस्थानी की आधुनिक कविता मे स्पष्ट परिवर्तन आया है—यथार्थवादी-प्रगतिवादी कविता, प्रयोगवादी—नई कविता और इतना ही नही राजस्थानी में आज गजल और नवगीत भी लिखे जाने लगे हैं। यद्यपि यह कहना तो अयथार्थ होगा कि राजस्थानी कविता समसामयिक नवचिन्तन की दृष्टि से

आज बहुत विकसित हो गई है और किसी भी प्रदेश-विदेश की कविता से होड़ ले सकती है। आज राजस्थानी कवि जिन परिस्थितियों में लिख रहा है और अपनी रचनायें छपा रहा है उसे देखते यह सब प्रशंसनीय है। वह प्रयत्न कर रहा है कि भारतीय और विश्व की आधुनिकतम काव्यधारा के समानान्तर चल सके।

राजस्थानी कविता की समीक्षा और मूल्यांकन की दृष्टि क्या हो? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। मैं ऊपर कह आया हूं कि राजस्थानी एक लोकभाषा है, उसकी अपनी प्रकृति है, उसके साहित्य की अपनी परम्परा है। अतः इस भाषा और साहित्य की अपनी प्रकृति और परम्परा के अनुसरण में ही राजस्थानी की आधुनिक कविता का स्वरूप-विवेचन व मूल्यांकन होना चाहिये। इलियट, एजरा पौण्ड, अज्ञेय, महादेवी वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना या धूमिल की कविताओं के संदर्भ देकर अथवा उनके काव्यशिल्प और साहित्य-चिन्तन की पृष्ठभूमि में राजस्थानी की आधुनिक कविता का मूल्यांकन करना मुझे तर्कसंगत नहीं लगता। राजस्थानी कविता का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा राजस्थान के सांस्कृतिक परिवेश और इतिहासक्रम में ही अपनी प्रामाणिकता के साथ प्रकट हुई है।

यों तो प्रत्येक रचनाकार अपने काल में नया सृजन करता है; नये काव्य-रूप गढ़ता है; भाषा, शब्द और शैली के नये प्रयोग करता है। आढ़ा दुरसा, ईसरदास, पृथ्वीराज, बांकीदास आदि ने भी अपने काल में काव्यवस्तु, काव्य-भाषा और काव्यरूपों को भी कुछ-न-कुछ नया रूप दिया था। राजस्थानी काव्य के आधुनिक युग के सूत्रधार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की कविता इस तथ्य की साक्षी है। लोककवि ऊमरदान ने जनभाषा में काव्य की सर्जना की। उन्होंने सामाजिक क्रान्ति का नया स्वरघोष किया, नये शब्दों और छन्दों का भी प्रयोग किया। ऊमरदान ने राजस्थानी की पारम्परिक काव्यवस्तु और शैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। एक अर्थ में राजस्थानी कविता और उसके सर्जक अपने युग के प्रति जागरूक रहे हैं।

किन्तु राजस्थानी की आधुनिक कविता-धारा में ये शब्द प्रयोग जनकवि श्री गणेश 'उस्ताद' की कविताओं से परिलक्षित होता है। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उस्ताद आधुनिक राजस्थानी कविता की प्रगतिवादी धारा के पुरोधा थे। दोहा, सोरठा, कवित्त, छप्पय, डिंगल गीत, वैण सगाई की परम्परागत काव्यरूढ़ियों को तिलांजलि देकर उन्होंने नये काव्यछन्दों का प्रयोग किया, लोकगीतों की धुनों में अपने गीतों को निबद्ध किया, काव्यवस्तु को सामाजिक यथार्थ से सम्पृक्त किया। इस प्रकार

उस्ताद ने राजस्थानी की आधुनिक कविता के मंच पर एक अग्निशलाखा कवि के रूप में अवतरित होकर जनजागरण की अलख जगाई। राजस्थान का जनसमाज तब राजाओं, ठाकुरों, जागीरदारों और अंग्रेजों के निर्दय शासन-चक्र के नीचे पिसा जा रहा था। पून्जीवाद का शोषण-चक्र निर्धन जनता का रक्तशोषण कर रहा था। तब कवि ने लिखा—'जाग रणबंका सपाही'। यह कविता उनकी बहुत लोकप्रिय हुई। सामाजिक जागरण के अपने कविधर्म का पालन करते हुये उस्ताद लिखते है—

म्हे आया अकल बतावा नै
जनता रो राज जमावा नै
राजा देस समझलो सबळो
रीत-भांत रजवाड़ां री
धूम मची है धाड़ां री
धारेत्यां नै धमकावा नै
माडाणी महाराजा बणग्या
चाल-ढाल सब भोंडी री
बड़पण री बैम मिटावा नै
म्हे आया अकल बतावा नै।

'उस्ताद' की सभी कवितायें संरचना, विषय और भाषा-विधान की दृष्टि से सामन्ती काव्य-परम्परा से अलग होकर चली हैं। उस्ताद जनवादी विचारधारा के पक्षधर थे। अपने सम्पूर्ण साहित्य-चिन्तन और सृजन में वे जनवादी रहे है। संभवत: उस्ताद पहले राजस्थानी कवि हैं जिन्होंने मार्क्स-वादी समाजवाद से प्रेरणा ग्रहण कर राजस्थान के किसान-मजदूरों को एकजूट हो सामन्ती-तन्त्र से लोहा लेने की शक्ति प्रदान की।

ओ लाल धजा री आंण फिरै
जद कमतरियां री दसा फिरै
सेठां री सैणप सड़ चाली
बात विगड़गी वोहरां री
चाल उकीली चवड़ हुयगी
पोल खुली मैं चोरां री.

जन-क्रान्ति के स्वर के साथ उस्ताद की कविता अपनी संरचना, लोक-भाषा की सहजता, अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता व शैली की तेजस्विता के कारण अलग ही पहचान बनाती है।

इसी प्रगतिवादी कविता के दौर मे मनुज देपावत और रेवतदान चारण

'गर्जित' ने इन्कलाबी स्वर संजोदित किया। ये दोनों कवि चारण काव्य-शैली की परम्परा से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुये थे। इन्होंने चारण काव्य की रूढ़ियों को तोड़ा और सामन्ती पूंजीवादी तन्त्र के खिलाफ इन्होंने पुनः विद्रोह किया। 'इन्कलाब री आंधी' रेवतदान चारण की एक ऐसी कविता है जिसने राजस्थानी भाषा और साहित्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाया—

अन्धार घोर आंधी प्रचंड
आ धुंआधोर धंध धंध करती
आवै है उर में आग लियां
गढ़ कोटां बंगलां नै ढहती

इसी अवधि मे गजानन वर्मा, सत्य प्रकाश जोशी, मेघराज मुकुल राजस्थानी भाषा की नई सामर्थ्य, नई साहित्य-चिन्तना और नई काव्य-संरचना लेकर राजस्थानी मंच पर आये। सत्य प्रकाश जोशी रचित कवितायें—'राजमहल, ताजमहल, म्हारो देस, जागरण रो गीत' राजस्थानी आधुनिक कविता की नई सामर्थ्य व नई शक्ति की प्रतीक हैं। ये कवितायें बहुत ही लोकप्रिय हुईं। 'म्हारो देस' कविता का एक अंश देखिये—

सोरा कठै सपूत, दोरो ज्यांरो देस
धोरां वाळो, डूंगर वाळो, म्हारो देस

'जागरण रो गीत' कविता में जोशी पूरी कौम को उद्बोधित कर नई ज्योति का सन्देश दे रहे हैं—

मीच आंखडियां, कर अंधारो
मत अंधारो सहो
जागता रहो
जागता रहो
नई जोत में राख भरोसो
नई काणियां कहो
जागता रहो।

राजस्थानी की आधुनिक कविता का दूसरा पक्ष है—प्रेम श्रृंगार और प्रकृति चित्रण। इस काव्य-प्रवृत्ति के रचनाकार हैं—नारायणसिंह भाटी, चन्द्रसिंह, कल्याणसिंह राजावत, गजानन वर्मा, लक्ष्मणसिंह रसवन्त, रामनाथ परिकर। चन्द्रसिंह व नारायणसिंह भाटी के प्रकृति-काव्य में यद्यपि डिंगल काव्यशैली का प्रभाव दिखाई देता है फिर भी इनकी शैली में पर्याप्त नवीनता है। स्थानीय परिवेश, वनस्पति, ऋतुओं का चित्रण इनकी कविताओं मे पूरी जीवन्तता के साथ हुआ है। इनके काव्यशिल्प, अलंकार और प्रतीक-

प्रयोग में ताजगी है। डा. नारायणसिंह भाटी रचित 'वसंत' कविता का एक अंश दृष्टव्य है—

मंदछकियौ मन मोवणो ।
कामण धरणी कंथ
सौरभ सर संपड़ीज मैं
आयौ भलो वसंत

श्री चन्द्रसिंहजी रचित 'बादळी' का एक अंश भी देखिये—

आज कळायण ऊमटी
छोडै लूव हबंस
सौ-सौ कोसां बरसमी
करसी काळ विधंस

राजस्थानी के आधुनिक काव्य मे सृजन के बहुरंगी रूप आज दिखाई देते है। नये भावबोध, समसामयिक चिन्तन और आम आदमी की समस्याओं से जुड कर राजस्थानी का वर्तमान कवि काव्य-सृजन में जुटा है। ओंकार पारीक और गोवर्धनसिंह शेखावत मिनी कवितायें लिख रहे है तो मणि मधुकर, तेजसिंह जोधा, नन्द भारद्वाज लम्बी कवितायें लिख कर राजस्थानी के काव्य-भण्डार को समृद्ध कर रहे है। खण्डकाव्य, महाकाव्य भी लिखे जा रहे है तो नवगीत का सृजन भी हो रहा है। भारतीय और विदेशी कविताओं के अनुवाद भी राजस्थानी मे किये जा रहे हैं।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि सामन्ती काव्य रूढ़ियों के बन्धनों से मुक्त हो आधुनिक राजस्थानी कविता अधुनातन सृजन-रूपों के साथ ताल देती आगे बढ़ रही है। इसका वर्तमान और भविष्य दोनो अनन्त संभावनाओं से युक्त है, उज्ज्वल है।

मानवतावादी कवि आशानन्दजी

राजस्थान वीरप्रसू भूमि तो रही ही है, इस भूमि ने सन्त, महात्मा, औलिया, कवि और कलाकारों को भी जन्म दिया है। कुछ तो ऐसे महापुरुष यहाँ हुए जिन्होंने देश-प्रदेश की सीमाओं का अतिक्रमण कर विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की। भक्त मीरा, वीर प्रताप, महाकवि पृथ्वीराज जैसे कुछ अपूर्व व्यक्तित्व यहाँ हो गये हैं। इस प्रदेश के सभी पक्ष उज्ज्वल रहे हैं— अतीत गौरवमय रहा है तो वर्तमान भी प्रशंसनीय है। इस प्रदेश का जितना गुणगान करो उतना ही कम है। इस प्रदेश की भाषा और साहित्य अत्यन्त गुण-गरिमा मण्डित है। पिछले एक सहस्र वर्ष से यहा साहित्य की गंगा एकधार बह रही है। यहाँ की कवि-परम्परा में अनेक महान् कवि हुए हैं— उनका काव्य लोककण्ठ पर आज भी प्रतिष्ठित है। बारहठ आशानन्दजी भी एक ऐसे ही कवि हुए जिनकी रचनायें बड़े चाव से पढ़ी जाती है।

राजस्थानी का एक प्रेमाख्यान 'बाघा भारमली री बात' है। यह प्रेम-कथा यों बहुत छोटी है किन्तु राजस्थानी-प्रेमाख्यान-साहित्य में, साथ ही इतिहास में इसका बड़ा महत्व है। ईसरदासजी बारहठ और आशानन्दजी का इस कथा के पात्रों और घटनाओं से निकट का सम्बन्ध है। सक्षेप मे, इस कथा की एक महत्वपूर्ण घटना इस प्रकार है। इस कथा के मुख्य पुरुष पात्र राव मालदेवजी की परिणीता रानी ऊमादे अपनी दासी भारमली के कारण अपने पति से रूठकर पीहर चली जाती है। भारमली अत्यन्त रूपवती है। उसे सन्देह हो जाता है कि भारमली से रावजी के अवैध सम्बन्ध है। राणी लम्बे समय तक पीहर से लौटकर नही आती। राव मालदेवजी महाकवि ईसरदासजी को ऊमादे को मनाकर लाने के लिए भेजते हैं। महाकवि के कहने-समझाने पर रानी अपना मान छोड़ पालकी मे बैठ जोधपुर के लिये प्रस्थान करती है। मार्ग मे गांव कोसाना के पास आशानन्दजी मिल जाते है। वे राणी को एक दोहा सुनाते हैं—

> मान रखे तो पीव तज, पीव रखे तज मान।
> दो-दो गयंद न बंधसी, एके कवू ठाण॥

इस हृदयस्पर्शी पर यथार्थपरक दोहे को सुन राणी ने पालकी वापिस लौटाने का आदेश दिया। राणी पुनः अपने पीहर लौट गई। आशानन्दजी की कवि-वाणी का यह प्रभाव था।

आशानन्दजी का जन्म वि. सं. 1563 में मारवाड़ राज्य के भाद्रेस गांव में हुआ। इनके पिता का नाम गीधाजी था। महाकवि ईसरदासजी इनके भतीजे थे। आशानन्दजी पर राव मालदेवजी की गहरी कृपा थी। प्रायः वे मालदेवजी की हाजरी में ही रहते। वि. सं. 1598 में मालदेवजी ने बीकानेर पर आक्रमण किया, उस समय भी आशानन्दजी उनके साथ ही थे। मालदेवजी इस युद्ध में दैवयोग से पराजित हो गये। आशानन्दजी को गहरा आघात लगा और निराश हो वे जैसलमेर चले गये। वहीं से कोटड़ा ठिकाने के ठाकर बाघाजी के आश्रित हो रहने लगे। उन दिनों मालदेवजी की रूठी राणी ऊमादे की दासी भारमली भी बाघाजी के रंगमहल में ऐश्वर्य भोग रही थी। जैसलमेर के रावल ने आशानन्दजी को कहलवाया कि भारमली को समझाकर उसे वे जैसलमेर भेजें किन्तु स्वयं आशानन्दजी बाघाजी और भारमली के प्रेम सम्बन्धों पर मोहित थे। इन दोनों के प्रेम की महिमा में आशानन्दजी का कहा हुआ एक दोहा लोक प्रचलित है—

जहां तरवर तहां मोरिया, जहां सागर तहां हंस।
जहां बाघा तहां भारमलो, जहां दारू तहां मस ॥

बाघाजी और आशानन्दजी में गहरी मित्रता थी। बाघाजी की मृत्यु से आशानन्दजी का हृदय भी टूट गया। 'बाघाजी रा दूहा' शीर्षक से आशानन्दजी ने शोककृति लिखी जो राजस्थानी साहित्य में प्रसिद्ध है। एक मित्र की मृत्यु पर करुणा और मार्मिक वेदना की इतनी अनूठी उत्कृष्ट रचना राजस्थानी में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इस कृति से कुछ छन्द यहां प्रस्तुत हैं—

बाघा आव वळे'ह, घर कोटड़ै तूं धणी।
जासी फूल झड़ेह, बास न जासी बाघजी ॥
बाघा हाले वेग, दुख साले दूदा हरा।
आठूं पहर उदेग, जातो देगो जैतवत ॥
हाठा पडी हड़ताल, हमे मद सूंगा हुवा।
पूछै घणा कलाळ, विकेरा भागै बाघजी ॥

आशानन्दजी अपने मित्र बाघाजी को जीवन पर्यन्त नहीं भूल सके। अपने अन्तिम दिनों में वे अमरकोट के राणाजी के साथ रहने लगे थे किन्तु वे अहर्निश बाघाजी को याद करते रहते थे। राणाजी ने बहुत प्रयत्न किया कि किसी प्रकार वे बाघाजी को भूल जायें पर वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो पाये

आशानन्दजी ने अपने मन की स्थिति का चित्रण निम्नोक्त दोहों में कर उन्हें राणाजी को सुनाया—

> कुकड ज्यूं कुरळावियो, दळती मांझल जोग ।
> कै थनै मिनडी झापियो, कै बाघा तणो विजोग ॥
> की कहू, की कहू, की कहू, की कहू करूं वखाण ।
> थारो म्हारो न कियो, के बाघा तणो महनाण ॥

आशानन्दजी की कोई बडी प्रबन्ध कृति नहीं मिलती । न उन्होंने विपुल मात्रा में काव्य-सृजन ही किया । उन्होंने स्फुट डिंगल गीत, दोहों सोरठों की ही अधिकांश में रचना की । इनके द्वारा रचित सात काव्य-कृतियां जो एक अर्थ में स्फुट छन्दों के संग्रह ही हैं, सग्रहालयों में उपलब्ध हैं । वे इस प्रकार हैं—

1 लक्ष्मणायण, 2 गोगाजी री पेड़ी, 3 गुण रंजन प्राण, 4 ऊमादे भटियाणी रा कवित्त; 5 बाघाजी रा दूहा, 6 राव चन्द्रसेन रा रूपक, 7 रावल माला सलखावत री गुण । इन कृतियों में काव्य-कला की दृष्टि से 'ऊमादे भटियाणी रा कवित्त' सर्वोत्कृष्ट है । इस कृति की भाषा अपनी कोमलता, माधुर्य और संवेदनात्मकता के लिये भी विशिष्ट कही जायेगी । ऊमादे कितनी सौन्दर्यवती थी और कवि की सौन्दर्य-चित्रण की कला में कितनी दक्षता प्राप्त थी—इसका प्रमाण निम्नोक्त कवित्त से मिलता है—

> भंवर ब्रह परजाळ जघा रंभातर,
> कनक पयोधर कुंभ, रास किया चढि जमहर ।
> चपकली निभीभली आखें भाता दावानळ,
> बाहा नाळ मृणाळ, कंठ होमे सातुजळ ।
> विधु वदन केस कोमळ तवां, दहवे जेम सहस्स फुण,
> बाळिया सती ऊमा बिनैं, अधर बिंब दाड़म दसण ।

आशानन्दजी पुराण, धर्म, इतिहास, साहित्य शास्त्र के ज्ञाता पण्डित थे । 'गुण निरंजन प्राण' उनका पुराण और धर्मशास्त्र का ग्रंथ है । 'रावल माला सलखावत री गुण' महेवा के अधिपति मल्लीनाथजी के जीवन पर आधारित एक काव्यकृति है जिसमें कुल 87 छन्द हैं । मल्लीनाथजी मारवाड़ में एक सिद्ध पुरुष के रूप में आदृत हैं । तिलवाड़ा गांव में लूणी नदी के किनारे आज भी इनका मन्दिर विद्यमान है । चैत्र मास में यहां प्रतिवर्ष एक विशाल पशु मेला लगता है । यह एक वीररस की कृति है और इससे आशानन्दजी की काव्यकला और भाषा की ओजस्विता का पता लगता है ।

आशानन्दजी का सम्पूर्ण साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। उन्होंने न तो कोई विशालकाय काव्यकृति का निर्माण किया और न परिमाण में भी कोई अधिक साहित्य लिखा। किन्तु एक सफल और सिद्ध कवि की प्रतिभा, सूझबूझ इनमें मौजूद थी। कवि के साथ-साथ वे एक अच्छे मनुष्य थे। बाघजी और आशानन्दजी की मित्रता, भारमली के प्रति उनका आदरभाव उनके उच्चकोटि के मनुष्यत्व को सिद्ध करते हैं। राजस्थानी मध्यकालीन साहित्य में आशानन्दजी का महत्वपूर्ण स्थान है।

राजस्थानी के गौरव-कवि : बारहठ ईसरदास

राजस्थानी साहित्य को यह गौरव प्राप्त है कि इसके कोश-संवर्द्धन में घासफूस की झोपड़ी में रहने वाले एक निर्धन व्यक्ति ने भी सहयोग दिया है, तो राजमहल में रहने वाले राजपुरुष ने भी। राजस्थान में साहित्य-लेखन किसी एक धर्म की अथवा जाति की धरोहर कभी नहीं रही। यह एक अपवाद है कि मध्यकाल में राजस्थानी साहित्य की रचना अधिकांश में चारणों व जैन साधुओं द्वारा हो हुई। चारण कवियों द्वारा रचित काव्य के विषय में एक भ्रांति यह भी है कि इसमें राजा-रानियों की अतिरंजित प्रशस्ति की भरमार है, युद्धों का अयथार्थ वर्णन है और शूरवीरता का निर्वचन है। अब यह भ्रम करीब-करीब टूट चुका। राजस्थानी साहित्य की शोध-समीक्षा ने ऐसी अनेक भ्रांतियों को निर्मूल कर उनकी व्यापक विषयवस्तु और अर्थ-गरिमा को उजागर किया है। इन चारण कवियों ने शक्ति के साथ भक्ति, अध्यात्म, धर्म, नीति और शृंगार रस की अपूर्व रचनाओं का सृजन किया है। राजस्थानी साहित्य के इतिहास-लेखक एवं अन्य अध्येताओं से यह सत्य छिपा हुआ नहीं है।

राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल के ईसरदास बारहठ एक ऐसे ही चारण कवि हुये जिन्होंने साहित्य में शक्ति और भक्ति की गंगा-यमुना एक साथ ही बहाई। 'हाला झाला रा कुण्डलिया' राजस्थानी वीर रस की एक महान् एवं अनुपम कृति है —इसके लेखक ईसरदास बारहठ ही हैं। भक्तिरस की दिव्य कृति 'हरिरस' की रचना भी इसी महान् कवि की सिद्ध लेखनी से हुई। 'हाला झाला रा कुण्डलिया' के अतिरिक्त भी ईसरदासजी ने वीर-काव्य की रचना की किन्तु वह सब स्फुट रूप में अलग-अलग छन्दों में है। राजस्थानी वीर-काव्य परम्परा को इनका योगदान कम महत्व का नहीं है, फिर भी ईसरदासजी राजस्थानी साहित्य के इतिहास में मूलतः भक्त और सन्त कवि के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। उनकी कवि-प्रतिष्ठा का मूलाधार उनका भक्ति-साहित्य ही है। आरम्भ में चारण-परम्परा के अनुसरण में इन्होंने भी अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में काव्य-रचना की, उनकी कल्पित शूरवीरता का अतिरंजित यशोगान किया किन्तु एक गुरु की प्रेरणा से भक्ति-भावना की ओर झुक गये और 'ईसरा परमेसरा' हो गये।

ईसरदासजी ने अपना सम्पूर्ण साहित्य डिंगळ में ही लिखा। इनकी

जामनगर के रावत साहिब के ये मेहमान बनकर रहे। रावत साहिब साहित्य-प्रेमी थे। ईसरदासजी की कविता से वे बहुत प्रभावित हुये। रावत साहिब के आग्रहपूर्ण निमंत्रण पर ईसरदासजी उनके राज्य-कवि के रूप में वहीं रह गये। कालान्तर मे रावत साहिब इनकी काव्य-प्रतिभा पर इतने मुग्ध हुये कि इन्हे ओड़पसाव एवं गांव देकर सम्मानित किया। इस प्रसंग का एक दोहा इस तथ्य को सत्यापित करता है—

ओड पसाव ईसर कियो, दियो सयाणौ गाम।
दता सिरोमण देखियो, जगसर रावळ जाम॥

रावत साहिब के दरबार मे एक संस्कृत पण्डित भी थे— उनका नाम था पीताम्बर भट्ट। ईसरदासजी इन पण्डितजी के प्रति गुरु-भाव रखते थे। उन्होंने संस्कृत, धर्म, दर्शन, पुराण और नीतिशास्त्र का अध्ययन इनके चरणो मे बैठकर ही किया। उन्हे भक्ति की प्रगाढ प्रेरणा देने वाले भी गुरु पीताम्बर भट्ट ही थे। अपने प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'हरिरस' मे उन्होंने अपने गुरु की प्रशसा इस प्रकार की है—

लागूं हूं पहली लुळै, पीताम्बर गुर पाय।
भेद महारस भागवत, पायो जास प्रसाद॥

कविता-लेखन तो चल ही रहा था, अब ईसरदासजी अहर्निश कृष्ण आराधना मे निमग्न रहने लगे। अब वे यथार्थ मे 'ईसरा परमेसरा' बन गये। इसका अर्थ यही है कि वे परमेश्वर-स्वरूप हो गये। राजस्थान और गुजरात में आज भी ऐसी अनेक जनश्रुतियां प्रचलित है जिनसे यह प्रकट होता है कि ईसरदासजी एक चमत्कारी सिद्ध पुरुष थे। उनके चमत्कारों के कई सोरठे विख्यात हैं। कुछ दोहे नीचे दिये जा रहे हैं—

नदी बहंतौ जाय, साइज सांगरिक दियौ।
कहज्यौ म्हारी माय, कवि नै दीजै कामळी॥
बाहण वहतौ जाय, साद दियंतौ साथियां।
कहज्यौ जायर माय, कवि नै देवै कांमळी॥
ईसर री आवाज, सांगा जळ थळ सांभळै।
कामळ देवण आज, वेगौ वळ सिध कर वयण॥

ईसरदासजी ने कुल दो विवाह किये थे। इतिहास-ग्रन्थों में इनके पाच पुत्रों का उल्लेख भी मिलता है। वृद्धावस्था मे ये अपनी जन्मभूमि भाद्रेस लौट आये और लूनी नदी के किनारे एक पर्णकुटी बना कर रहने लगे। वहीं भक्तिभावना, कृष्ण-आराधना मे जीवन की शेष यात्रा पूरी करने लगे। वि. स. 1675 मे अस्सी वर्ष की आयु मे इन्होंने अपने यश-शरीर को त्याग दिया।

ईसरदासजी मूलतः भक्त कवि थे। राजस्थानी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इनके द्वारा विरचित 19 ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। राजस्थानी भाषा और साहित्य के अपने इतिहास में डा. मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है कि ईसरदासजी ने केवल 12 ग्रन्थों की ही रचना की। हरिरस, देवियाण, गुण रासलीला, दानलीला, सामला रा दूहा, हाला झाला रा कुण्डलिया आदि बारहठजी के मुख्य ग्रन्थ है। साहित्यिक दृष्टि से इन सभी ग्रन्थो का अपना स्थान और मूल्य है किन्तु ईसरदासजी की अमर कीर्ति तीन ग्रन्थों से ही है और वे है—हरिजस, देवियांण और हाला झाला रा कुण्डलिया। देवियाण का वही महत्व है जो शास्त्रों में दुर्गा सप्तशती का। हाला झाला रा कुण्डलिया राजस्थानी वीरकाव्य की एक अत्यन्त सशक्त मानक कृति है। इसके छन्द लोककण्ठ पर आज भी प्रतिष्ठित है। इसके काव्य-शिल्प, भाषा-सौष्ठव और वीर-भाव की व्यंजना के आस्वाद के लिये एक छन्द नीचे दिया जा रहा है—

मरदां मरणो हक्क है, उबरसी गल्लाह।
सापुरसा रा जीवणां, थोड़ा ही भल्लाह॥
भल्ला थोड़ा जीविया, नाम राखै भवां।
खेल उभाखै भागळा, सिर खवां॥
कळ जडै जोर दद, जस नामो करै।
मरद साया जिकै, आय अवसर मरै॥

हे वीरो! युद्धभूमि मे जाकर मरना उचित है। इससे वीरगाथायें बनी रहेंगी। सत्पुरुषो की आयु थोड़ी ही अच्छी है। इस प्रकार थोडे जीने से, संसार में नाम अमर हो जाता है। खेल-खेल मे ही ये सत्पुरुष कायरो के कन्धों और सिर पर तलवार चला देते है। देखो, युद्ध में जाकर वे चन्द्रमा की भांति अपना नाम अमर करते हैं। अवसर आने पर प्राण दे-देने वाले पुरुष ही सच्चे वीर पुरुष हैं।

ईसरदासजी राजस्थानी साहित्य के निर्विवाद रूप से एक कीर्तिस्तम्भ हैं। भक्त और सन्त कवि के रूप मे इन्होंने राजस्थानी को भक्ति-साहित्य की जो निधि दी है, वह तो अमूल्य है ही किन्तु वीरभाव के प्रेमी और रण-दृश्यों के कुशल चितेरे के रूप में इन्होंने वीररस की जो रचनायें दी हैं, वे इन्हें राजस्थानी साहित्य मे और भी गौरवमण्डित स्थान दिलाती हैं। जहां इनका हरिरस श्रद्धालु भक्तों का कण्ठहार है, वहां वीररस से ओतप्रोत कुण्डलिया के छन्द वीरों के प्रेरणा-स्रोत हैं। इनकी काव्यकला, भाषा, काव्यविषय, सभी को पूरा आदर मिला है। जहां इन्हें काव्यपण्डितो से प्रशंसा मिली है वहां

सरल हृदय लोकसमाज से भी भक्ति और श्रद्धा प्राप्त हुई है। दर्शन और भक्ति के गहन विषय को इन्होंने बहुत ही सरल भाषा में अभिव्यक्ति दी। यही कारण है कि इनका हरिरस राजस्थान के जन-समाज में आज भी लोकप्रिय है।

ईसरदासजी एक और कारण से भी महत्वपूर्ण कवि हैं। ये जामनगर रावल के यहां आश्रित रहे किन्तु अन्य आश्रित चारण कवियों की तरह इन्होंने कभी अपने आश्रयदाता का अतिरंजित प्रशस्तिगान नहीं किया। ये कवि-धर्म की पवित्रता के पक्षधर थे। अपनी कविवाणी का इन्होंने वीरभाव के उद्बोधन और मनुष्य के आत्मकल्याणकारी काव्य के सृजन में ही उपयोग किया।

राष्ट्रकवि दुरसा आढ़ा

डिंगल के वीर साहित्य के सम्बन्ध में कहे गये डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के यह शब्द सहसा स्मृति में उभर आते हैं, "राजस्थानी-साहित्य वीरत्व से ओतप्रोत जीवन और वीरता के झंझा-प्रवाह सदृश मृत्यु का संदेश है। ये राजस्थान के गीत थे जिनमें कि अथक शक्ति एवं अविजित लौहयुक्त साहस का अनिल स्रोत प्रवाहित होता था और राजपूत योद्धा को व्यक्तिगत सुख तथा आकर्षण को विस्मृत करा कर सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं के लिये लड़ने पर बाध्य किया।"[1] इन्हीं शब्दों की पृष्ठभूमि में जब हम डिंगल के मध्यकाल पर (सं. 1550-1875) दृष्टिपात करते हैं तो विदित होता है कि डिंगल के कवियों ने युगधर्म के अनुकूल अपनी मर्यादा और दायित्व का अटूट निष्ठा के साथ निर्वाह किया है। जीवन के मूल्यों के अनुसार समाज की संस्कृति का रूप-गठन होता है। राजनैतिक परिवर्तन, धार्मिक क्रांतियाँ और वैचारिक आन्दोलन जीवन की व्यवस्थाओं में एक प्रकार का विघटन प्रस्तुत करते हैं; एक संकटकालीन स्थिति हमारे जीवन को आवृत्त कर लेती है; जीवन का मूलाधार ही कभी-कभी इस प्रकार खतरे में पड़ जाता है, तब साहित्यकार की एक मर्यादा अथवा दायित्व होता है कि वह डूबती हुई संकटग्रस्त मानवता को उबारे, उसे सही दिशा-निर्देश दे। डिंगल के मध्यकालीन कवियों ने अपने कवि और योद्धा दोनों के ओजस्वी स्वरों में जीवन की विघटक शक्तियों एवं संस्कृति के शत्रुओं को ललकारा है, दीन-हीन मानवता को संजीवन दिया है, और जाति, धर्म तथा देश पर आहूत होने वाले नर-पुंगवों की कीर्ति के अमर गीत गाये हैं। कवि-कर्म और धर्म का औचित्य उनके साहित्य में प्रकट हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकाल का जब संक्षेप में अध्ययन करते हैं तो विदित होता है कि इस काल में हिन्दू जाति पूर्ण रूप से पराभूत हो चुकी थी। यवन साम्राज्य की अधीनता में घृणा के स्थान पर एक प्रकार के गौरव के भाव का अनुभव किया जाने लगा। राजपूत शासकों में परस्पर वैर, फूट और वैमनस्य का प्राबल्य था। दिल्ली के तख्त पर तब मुगल सम्राट् अकबर आसीन था। ऐसे लोग भी तब अवश्य हुये जो जीवनपर्यन्त दिल्ली के तख्त से टक्कर लेते रहे—स्वयं मिट गये किन्तु उन्होंने मुगल साम्राज्य के सम्मुख कभी भी मस्तक नहीं झुकाया। ऐसे ही यशस्वी पुरुषों में महाराणा प्रताप अपने

जात्याभिमान, स्वदेश-प्रेम और स्वातंत्र्योपासना के लिये विश्व-इतिहास में सम्मानित हुये हैं। राष्ट्रीय एकता का भारत में सर्वत्र लोप हो गया था। राजनैतिक दासता के साथ-साथ इस्लाम धर्म भी अंगीकृत किया जाने लगा था। यह स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय थी। चारण कवियों ने इस 'सांस्कृतिक और राजनैतिक आपद्-काल' में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। वीरत्व की पूजा, स्वामी-भक्ति और ईश्वर में अटूट आस्था इस जाति की स्वभावगत विशेषतायें हैं। यही भाव चारण कवियों के साहित्य में प्रतिबिम्बित है। "शौर्य, औदार्य, देश-प्रेम, आत्माभिमान, बलिदान, त्याग, ईश्वर-भक्ति आदि मानव-हृदय के उदात्त भावों से यह साहित्य ओतप्रोत है।"[1] ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्यों में, जो इस काल में लिखे गये थे, जहाँ इतिहास की मूल्यवान सामग्री उपलब्ध होती है, वहां तत्कालीन जातीय जीवन, एकीभूत संस्कृति तथा डिंगल काव्य का अत्यन्त प्राजल रूप प्रकट हुआ है। हिन्दू संस्कृति के रक्षक और मातृभूमि की स्वतत्रता के पुजारियों का ओजस्वी वाणी में प्रशस्ति-गान कर तथा पराजित जाति को नव-जीवन तथा शक्ति का उद्बोधन देकर इन कवियों ने राष्ट्रीय-कविता की धारा प्रवाहित की। यह चाहे आश्चर्यजनक लगे किन्तु सत्य है कि राष्ट्रीय कविता का उद्घोष सर्वप्रथम हमें चारण साहित्य में ही सुनाई देता है। बारहठ बारुजी सौदा (चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ) से डिंगल साहित्य के प्रारम्भ काल में राष्ट्रीय-कविता की जो धारा प्रवाहित होती है वह जमणाजी बारहठ, सूरायच टापरिया, राठौड़ पृथ्वीराज, दुरसा आढा, सादू माला आदि में अपनी परम्परा को अक्षुण्ण रखती हुई आगे बढ़ती है। दुरसाजी इस धारा के मूर्धन्य कवि हैं।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में दुरसा आढ़ा राजस्थानी साहित्य को पूर्व मध्यकाल की एक बहुत बड़ी देन है। यद्यपि इस काल में वीर, शृंगार, भक्ति और

जीवन वृत्त—

दुरसाजी का जीवन वृत्त, जन्म तथा मृत्यु-तिथि और साहित्यिक सृजन बड़े विवादग्रस्त हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि स्वयं कवि ने अपने सम्बन्ध में अन्तर्साक्ष्य के रूप मे अपवादस्वरूप ही लिखा। डा. मोतीलाल मेनारिया[1] ने लिखा है—"ये आढ़ा गोत्र के चारण थे। इनका जन्म सं. 1592 जोधपुर राज्यान्तर्गत धूंधला नामक गांव में हुआ।" गुजराती के विद्वान् श्री शंकरदान जेठीभाई देथा[2] के मतानुसार इनका जन्म संवत् 1595 मे जैतारण (जोधपुर) में हुआ और स्वर्गवास संवत् 1708 मे हुआ। डॉ. जगदीश श्रीवास्तव[3] ने डॉ. मेनारिया का ही समर्थन किया है। मुंहता नैणसी की ख्यात और अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ये इनका जन्म सन् 1535 ई. में धूंधला ग्राम में और मृत्यु सन् 1655 ई. मे लगभग 120 वर्ष की अवस्था में पांचेटिया ग्राम मे मानते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा डॉ. मेनारिया के मत से सहमत नही हैं। श्री ओझाजी और आसोपाजी के इतिहास ग्रन्थों तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने श्री देथा की मान्यता को अधिक संगत माना है।

इनके पिताजी का नाम मेहाजी था। ये आढ़ा गोत्र के चारण थे। बाल्य काल मे ही दुरसाजी मातृ-पितृहीन हो गये। कहते है निर्धनता के कारण दुरसाजी के पिता ने इनके जन्म पूर्व ही सन्यास ले लिया[4]। बगड़ी गांव (जोधपुर) के ठाकुर प्रतापसिंह ने इनका लालन-पालन किया। इसके प्रमाण-स्वरूप स्वय दुरसाजी का लिखा एक सोरठा मिलता है—

माथै मावीतांह, जनम तणौ क्यावर जितौ।
सोहड सुध पातांह, पालनहार प्रतापसी ॥[5]

डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने एक जन-श्रुति के आधार पर बताया है कि इन्हें किसी जैन जती ने[6] पाल-पोस कर बड़ा किया और पढ़ाया-लिखाया। स्वयं कवि का उपरोक्त सोरठा ही हमें प्रमाण के रूप में लेना चाहिये और यही मानना चाहिये कि ठाकुर प्रतापसिंह ने ही इनका लालन-पालन किया।

---

1 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृ. 17
2 सुकाव्य संजीवनी, प्रथम भाग—श्री शंकरदान जेठीभाई देथा
3 डिंगल साहित्य—डॉ. जगदीश श्रीवास्तव, पृ. 17
4 राजस्थानी सबद कोस—श्री सीताराम लाळस (भूमिका)
5 राजस्थानी सबद कोस—श्री सीताराम लाळस (भूमिका)
6 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. माहेश्वरी, पृ. 140

जा रहा था। सोजत से लेकर, जो इस यात्रा में मार्ग पड़ता था, गूंदोच तक की सारी व्यवस्था का भार प्रतापसिंह को सौंपा गया था। उन्होंने यह व्यवस्था-भार दुरसाजी के कन्धों पर डाल दिया। इन्होंने बड़ी चतुराई से यह सुव्यवस्था की। यहीं अकबर से साक्षित्य हुआ और कहते हैं अकबर ने इन्हें 'लाख पसाव' तथा सेवा का प्रशंसा-पत्र दिया।

दूसरी मान्यता यह है कि संवत् 1615-16 के आसपास यह स्वयं एक बार अकबर के अभिभावक बैरामखाँ से मिले थे। यह भेंट अजमेर में हुई थी। दुरसाजी पुष्कर-स्नान के लिये जा रहे थे और बैराम कार्यवश अजमेर आये हुये थे। बैरामखाँ के कर्मचारियों ने प्रारम्भ में यह भेंट नहीं होने दी। कहते हैं, एक बार सन्ध्या समय बैरामखाँ बाहर भ्रमणार्थ निकले तब उसी मार्ग पर कुछ दूर खड़े हो कर यह जोर-जोर से निम्नोक्त दोहा सुनाने लगे—

आफताब अंधेर पर, अगनी पर ज्यूं नीर।
दुरसा कवि का दुक्ख पर, है बहराम वजीर॥

दुरसाजी ने बैरामखाँ की प्रशंसा में उस समय निम्नांकित दोहे और कहे—

तूं बन्दा अल्लाह का, मैं बन्दा तेराह।
तेरा है मालिक खुदा, तूं मालिक मेराह॥
पीर पराई मेटणा, एह पीर का काम।
मेरी पीड़ा मेट दे, बडा पीर बहराम॥
बिभीषण क्यूं वारिधि तट, भेटे वो एक राम।
अब मिळया अजमेर में, दुरसा कूं बहराम॥

कह नहीं सकते, दुरसाजी पर तब क्या संकट था। बैरामखाँ से किस प्रकार की सहायता चाहते थे? क्यों चाहते थे? किन्तु यह प्रशंसा भी अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसे युग-परम्परा ही मानना चाहिये। इस प्रशंसा-काव्य को सुन कर बैरामखाँ का दुरसाजी से प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। अपने डेरे पर बुला कर बैरामखाँ ने कवि को एक लाख रुपये का पुरस्कार दिया और यह भी विश्वास दिलाया कि वे कवि को बादशाह से अवश्य मिला देंगे। कहते हैं अपने वायदे के अनुसार ठीक दो महीने पीछे बैरामखाँ ने दुरसाजी को अकबर से मिला दिया। अकबर की प्रशंसा में उन्होंने ओजस्वी गिरा में काव्य-पाठ किया और एक 'क्रोड़पसाव' प्राप्त किया।

इस सम्बन्ध में तीसरी मान्यता और है। जोधपुर के प्रसिद्ध कवि लक्खाजी बारहठ तब अकबर के दरबारी कवि थे। कहते हैं लक्खाजी ही इन्हें अकबर के शाही दरबार में ले गये। लक्खाजी की इस उदारता के प्रति कवि ने अपनी कृतज्ञता निम्नांकित दोहे में प्रकट की है—

दिल्ली दरगह अंब-तरु, ऊंचौ फळद अपार।
चारण नाजौ चारणां, डाळ नामावणहार॥

इतिहास-ग्रन्थों की सामग्री से यह प्रकट होता है कि दुरसाजी केवल कवि ही नहीं थे, वे तलवार के धनी भी थे। यह बात अनेक चारण कवियों के सम्बन्ध में कही जाती है और इतिहास में इसके प्रमाण भी हैं। चारण कवि हिन्दू संस्कृति, मातृभूमि और गो-धर्म की रक्षार्थ रणभूमि में हँसते-हँसते अपने सिर भी कटवा देते थे। दुरसाजी ने भी चारण कवि-धर्म के अनुकूल युद्ध में भाग लिया था। सं. 1640 में सिरोही के राव सुरताण के विरुद्ध सीसोदिया जगमाल की सहायता के लिये अकबर ने जोधपुर के रायसिंह चन्द्रसेनोत और दांतीवाड़ा के स्वामी कोलीसिंह के नेतृत्व में एक सेना भेजी थी। उस समय दुरसाजी भी रायसिंह के साथ थे। आबू के निकट दत्ताणी नामक स्थान पर भयंकर रक्तपात हुआ। रायसिंह, कोलीसिंह, जगमाल इत्यादि वीर मारे गये। दुरसाजी घायल हो कर युद्ध-भूमि में गिर गये। राव सुरताण और अन्य सरदार जब उधर से निकले तो इन्होंने बड़ी ही करुण वाणी में कहा—मुझे मत मारो—मैं चारण हूँ। उस युद्ध में राव सुरताण की सेना का स्तम्भ देवड़ा समरा वीरगति को प्राप्त हो गया था। दुरसाजी को कहा गया कि यदि आप चारण हैं तो देवड़ा समरा की कीर्ति में कोई गीत कहें। तब उसी समय दुरसाजी ने निम्नांकित दोहा सुनाया—

धर लाखां जस डूंगरां, अद पोतां सत्र हाण।[1]
समरे मरण सुधारियो, चहुं थोकां चहुवाण॥

इसका पाठान्तर इस प्रकार भी मिलता है—

धर रावां जस डूंगरां, अद पोतां सत्र हाण।
समरे मरण सुधारियो, चहुं थोकां चहुवाण॥

इस दोहे को सुन कर राव सुरताण बहुत प्रसन्न हुये। वे इन्हें सम्मान सहित घर ले गये—पोळपात बनाया, क्रोड़-पसाव और गाँव दे कर कवि को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की।

मैं ऊपर उल्लेख कर आया हूँ कि कवि के सम्बन्ध में अद्यावधि बहुत कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है, अतः उनके जीवन के सम्बन्ध में विस्तार से प्रामाणिक सामग्री देना कठिन है। इनके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में केवल इतनी ही सामग्री मिलती है कि इन्होंने दो विवाह किये थे। भारमलजी, जगमलजी, सादूलजी और किशनाजी इनके पुत्र थे। यह प्रायः

---

1 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. मेनारिया, पृ. 185

किसनाजी के पास ही रहा करते थे और पांचेटिया मे सं. 1712 मे इनका अवसान हुआ।

ये अनेक वीरों, इतिहास-प्रसिद्ध राजाओं और कवियों के समकालीन थे। बीकानेर के राजा रायसिंह, सिरोही के राव सुरताण, जोधपुर के राव चन्द्रसेन और मेवाड़ के राणा प्रताप इन्ही के काल में हुए। डिंगल के प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज, ईसरदास और सांदू माला भी इनके समय मे ही हुए। पृथ्वीराज की वेलि की प्रामाणिकता को लेकर जब प्रश्न उठा तो ये भी चार सम्मतिदाताओं मे थे। इनकी सम्मति पृथ्वीराज के पक्ष में नही थी। किन्तु इनके द्वारा रचित एक गीत मिलता है जिसमें वेलि की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की गई है। सम्भव है उन्होने अपना मत बाद मे बदल लिया हो।[1]

कहते हैं कवि के रूप मे जितना धन, यश और सम्मान दुरसाजी को प्राप्त हुआ उतना डिंगल के किसी कवि को प्राप्त नहीं हुआ। कवि के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व की अन्य विशेषतायें, संभव है, इसका कारण रही हो। अपने काल में यह बहुत ही लोकप्रिय हुए। दुरसाजी की एक पीतल की मूर्ति भी पांचेटिया गांव के अचलेश्वरजी के मन्दिर में सुरक्षित है।[2] इससे कवि की ख्याति का पता लगता है।

कृतित्व—

जिस प्रकार दुरसाजी के जीवन-वृत्त की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त नही होती उसी प्रकार उनके द्वारा विरचित सम्पूर्ण साहित्य का भी अभी पता नही लग पाया है। डॉ. मोतीलाल मेनारिया, डॉ. जगदीश श्रीवास्तव, श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, श्री सीताराम लाळस प्रभृति विद्वान् इस विषय पर पृथक्-पृथक् मत रखते हैं। डॉ. मेनारिया के अनुसार दुरसाजी ने तीन ग्रन्थ—विरद छिहत्तरी, किरतार बावनी और श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत लिखे। वे 'विरद छिहत्तरी' तो दुरसाजी की ही कृति मानते हैं किन्तु शेष दो ग्रन्थों को ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में संदिग्ध मानते है। डॉ. मेनारिया के अनुसार दुरसाजी ने स्फुट काव्य भी लिखा जो गीत, कवित्त, दोहा और सोरठा के रूप मे राजस्थान मे प्रचलित है।[3]

---

1 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृ. 146

2 मरुवाणी (बरस 4, अंक 7, 1959 जुलाई) में प्रकाशित श्री नाहटा का लेख।

3 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृ. 185-186

डॉ. जगदीश श्रीवास्तव[1] ने डॉ. मेनारिया के मत का ही समर्थन किया है। वे भी कवि की दो अन्य कृतियों—'करतार बावनी और श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत' को संदिग्ध मानते हैं। इसके अतिरिक्त डॉ श्रीवास्तव ने यह भी जानकारी दी है कि स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले वीरों की प्रशंसा में दुरसाजी ने अनेक वीर-गीत लिखे। महाराणा अमरसिंह (शासन काल सन् 1596-1619) पर रचित उनके वीर गीत साहित्य की अद्वितीय सामग्री है।

कवि के साहित्य-सृजन के सम्बन्ध में डॉ. हीरालाल माहेश्वरी[2] द्वारा दी गई सूचनायें बहुत ही अमूल्य और महत्वपूर्ण हैं। उनकी धारणा है कि दुरसाजी की आठ बड़ी कृतियां हैं जिनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

1 विरुद छिहत्तरी; 2 किरतार बावनी; 3 राउ श्री सुरतांण रा कवित्त; 4 दूहा सोलकी वीरमदेजी रा; 5 झूलणा रावत मेघा रा; 6 गीत राजि श्री रोहितासजी री; 7 झूलणा राव श्री अमरसिंघजी गजसिंघोत रा; 8 श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत।

अन्तिम कृति को डॉ. माहेश्वरी भी संदिग्ध मानते हैं। उपरोक्त कृतियों के अतिरिक्त स्फुट काव्य के रूप में दुरसाजी की अनेक रचनायें संग्रहालयों में विद्यमान है—ऐसा भी उनको विश्वास है। कवि का कुछ स्फुट काव्य नैणसी तथा दयाळदास की ख्यातों तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी बिखरा हुआ मिलता है।

'राजस्थानी सबद कोस' के सम्पादक श्री सीताराम लाळस[3] ने शब्द कोश की विस्तृत भूमिका मे दुरसाजी के जीवन-परिचय के साथ इनकी कृतियो का परिचय भी दिया है और उनकी मान्यता है कि स्फुट काव्य के अतिरिक्त कवि ने केवल तीन ही कृतियां लिखी और वे है—विरुद छिहत्तरी, किरतार बावनी व श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत। अन्तिम दो कृतियों के सम्बन्ध मे श्री लाळस भी सन्देह रखते हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि यद्यपि दुरसाजी दीर्घायु हुये किन्तु उन्होंने साहित्य-सृजन बहुत ही कम किया। डॉ. मेनारिया और अन्य विद्वानों द्वारा 'किरतार बावनी' और 'श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत' की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में प्रकट की गई शंकाओं का समाधान

---

1 डिंगल साहित्य—डॉ. जगदीश श्रीवास्तव, पृ. 17

2 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृ. 145

3 राजस्थानी सबद कोस—श्री सीताराम लाळस

करते हुए श्री नाहटा[1] ने लिखा है कि 'गजगत' जामनगर के इतिहास मे कवि की प्रामाणिक रचना के रूप मे प्रकाशित हो चुकी है। उनकी मान्यता है कि 'किरतार बावनी' की अनेक प्रतियां राजस्थानी साहित्य के विभिन्न संग्रहालयो में विद्यमान है। गुजरात और बम्बई के जैन मन्दिरो और भण्डारो में भी इस कृति की प्रतियों का पता लगा है। जैन साहित्य मण्डल, पालीताणे से 'किरतार बावनी' की प्रति की प्रतिलिपि मगा कर नाहटा ने प्रकाशित भी करवाई है।

श्री सौभाग्यसिंह शेखावत[2] ने दुरसाजी की एक अन्य कृति का उल्लेख किया है। यह है 'झूलणा राजा मानसिंह रा'। इस कृति मे आमेर के प्रसिद्ध राजा मानसिंह के प्रताप, पौरुष और कार्यों की प्रशंसा की गई है। 'विरुद छिहत्तरी', 'किरतार बावनी' और 'अज्जाजी नी गजगत' और 'झूलणा राजा मानसिंह रा' के अतिरिक्त श्री शेखावत ने कवि की अन्य रचनाओ के सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही की।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि कवि ने यद्यपि दीर्घायु प्राप्त की थी किन्तु साहित्य सृजन बहुत कम किया। सम्भव है समय, परिस्थितियाँ और मनोदशा उनके अनुकूल नही रही हो। परिमाण से पृथक् साहित्य की उत्कृष्टता का ही महत्व और मूल्यांकन होना चाहिए। दुरसाजी को अपने जीवन-काल मे जो धन, यश और सम्मान मिला वह निश्चित रूप से उनके काव्य की उत्कृष्टता के आधार पर ही प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। जिन कृतियो के सम्बन्ध में विद्वानों को सन्देह है, उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता की खोज की जानी चाहिए। कृतियों की भाषा, ऐतिहासिक संदर्भ, काव्य-शिल्प और कवि की भाव-धारा की पृष्ठभूमि में तथ्यातथ्य का पता लगाया जा सकता है।

ऊपर जिन कृतियों का उल्लेख किया गया है उनमें 'विरुद छिहत्तरी, किरतार बावनी, दूहा सोलंकी वीरमदेव रा और झूलणा राव श्री अमरसिंघजी गजसिंघोत रा', अपेक्षाकृत बड़ी रचनायें हैं। शेष बहुत ही छोटी हैं जिनमे 10 से 20 तक छन्द हैं। नीचे हम कवि की चार बड़ी रचनाओ का संक्षिप्त परिचय दे रहे है।

विरुद छिहत्तरी—

इस काव्य-कृति का रचनाकाल ई. सन् 1555-1655 के मध्य माना

---

1. मरुवाणी (1959 जुलाई) श्री अगर चन्द नाहटा
2. शोध पत्रिका (सितम्बर 1960) श्री सौभाग्यसिंह शेखावत

डॉ. जगदीश श्रीवास्तव[1] ने डॉ. मेनारिया के मत का ही समर्थन किया है। वे भी कवि की दो अन्य कृतियों—'करतार बावनी और श्री कुमार अज्जाजी नीं भूचर मोरी नी गजगत' को संदिग्ध मानते हैं। इसके अतिरिक्त डॉ. श्रीवास्तव ने यह भी जानकारी दी है कि स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले वीरों की प्रशंसा में दुरसाजी ने अनेक वीर-गीत लिखे। महाराणा अमरसिंह (शासन काल सन् 1596-1619) पर रचित उनके वीर गीत साहित्य की अद्वितीय सामग्री है।

कवि के साहित्य-सृजन के सम्बन्ध में डॉ. हीरालाल माहेश्वरी[2] द्वारा दी गई सूचनायें बहुत ही अमूल्य और महत्वपूर्ण हैं। उनकी धारणा है कि दुरसाजी की आठ बड़ी कृतियाँ है जिनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

1 विरुद छिहत्तरी; 2 किरतार बावनी; 3 राउ श्री सुरताण रा कवित्त; 4 दूहा सोलकी वीरमदेजी रा; 5 झूलणा रावत मेघा रा; 6 गीत राजि श्री रोहितासजी री; 7 झूलणा राव श्री अमरसिंघजी गजसिंघोत रा; 8 श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत।

अन्तिम कृति को डॉ. माहेश्वरी भी संदिग्ध मानते है। उपरोक्त कृतियो के अतिरिक्त स्फुट काव्य के रूप मे दुरसाजी की अनेक रचनायें संग्रहालयो मे विद्यमान हैं—ऐसा भी उनको विश्वास है। कवि का कुछ स्फुट काव्य नैणसी तथा दयाळदास की ख्यातों तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी बिखरा हुआ मिलता है।

'राजस्थानी सबद कोस' के सम्पादक श्री सीताराम लाळस[3] ने शब्द कोश की विस्तृत भूमिका मे दुरसाजी के जीवन-परिचय के साथ इनकी कृतियो का परिचय भी दिया है और उनकी मान्यता है कि स्फुट काव्य के अतिरिक्त कवि ने केवल तीन ही कृतियाँ लिखी और वे हैं—विरुद छिहत्तरी, किरतार बावनी व श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत। अन्तिम दो कृतियो के सम्बन्ध में श्री लाळस भी सन्देह रखते है।

श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि यद्यपि दुरसाजी दीर्घायु हुये किन्तु उन्होने साहित्य-सृजन बहुत ही कम किया। डॉ. मेनारिया और अन्य विद्वानों द्वारा 'किरतार बावनी' और 'श्री कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरी नी गजगत' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रकट की गई शंकाओं का समाधान

---

1 डिंगल साहित्य—डॉ. जगदीश श्रीवास्तव, पृ. 17

2 राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृ. 145

3 [illegible]

करते हुए श्री नाहटा[1] ने लिखा है कि 'गजगत' जामनगर के इतिहास में कवि की प्रामाणिक रचना के रूप मे प्रकाशित हो चुकी है। उनकी मान्यता है कि 'किरतार बावनी' की अनेक प्रतियां राजस्थानी साहित्य के विभिन्न संग्रहालयों में विद्यमान हैं। गुजरात और बम्बई के जैन मन्दिरों और भण्डारो मे भी इस कृति की प्रतियो का पता लगा है। जैन साहित्य मण्डल, पालीताणे से 'किरतार बावनी' की प्रति की प्रतिलिपि मंगा कर नाहटा ने प्रकाशित भी करवाई है।

श्री सौभाग्यसिंह शेखावत[2] ने दुरसाजी की एक अन्य कृति का उल्लेख किया है। यह है 'झूलणा राजा मानसिंह रा'। इस कृति में आमेर के प्रसिद्ध राजा मानसिंह के प्रताप, पौरुष और कार्यों की प्रशंसा की गई है। 'बिरुद छिहत्तरी', 'किरतार बावनी' और 'अजआजी नी गजगत' और 'झूलणा राजा मानसिंह रा' के अतिरिक्त श्री शेखावत ने कवि की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में कोई चर्चा नही की।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि कवि ने यद्यपि दीर्घायु प्राप्त की थी किन्तु साहित्य सृजन बहुत कम किया। सम्भव है समय, परिस्थितियाँ और मनोदशा उनके अनुकूल नही रही हो। परिमाण से पृथक् साहित्य की उत्कृष्टता का ही महत्व और मूल्यांकन होना चाहिए। दुरसाजी को अपने जीवन-काल मे जो धन, यश और सम्मान मिला वह निश्चित रूप से उनके काव्य की उत्कृष्टता के आधार पर ही प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। जिन कृतियों के सम्बन्ध में विद्वानों को सन्देह है, उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता की खोज की जानी चाहिए। कृतियो की भाषा, ऐतिहासिक संदर्भ, काव्य-शिल्प और कवि की भाव-धारा की पृष्ठभूमि में तथ्यातथ्य का पता लगाया जा सकता है।

ऊपर जिन कृतियों का उल्लेख किया गया है उनमे 'बिरुद छिहत्तरी, किरतार बावनी, दूहा सोलंकी वीरमदेव रा और झूलणा राव श्री अमरसिंघजी गजसिंघोत रा', अपेक्षाकृत बड़ी रचनायें हैं। शेष बहुत ही छोटी हैं जिनमे 10 से 20 तक छन्द है। नीचे हम कवि की चार बड़ी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

बिरुद छिहत्तरी—

इस काव्य-कृति का रचनाकाल ई. सन् 1555-1655 के मध्य माना

---

1 मरुवाणी (1959 जुलाई) श्री अगर चन्द नाहटा

2 शोध पत्रिका (सितम्बर 1960) श्री सौभाग्यसिंह शेखावत

जाता है। यह काव्य प्रशंसा-काव्य है। इसमें स्वाधीनता प्रेमी, हिन्दू संस्कृति के रक्षक, राजपूती गौरव के प्रहरी, वीर राणा प्रताप की प्रशंसा की गई है। अकबर के प्रति अत्यन्त भर्त्सनापूर्ण शब्दों का प्रयोग हुआ है। अकबर और प्रताप के बीच में हल्दीघाटी और अन्य स्थानों पर होने वाले युद्धों का वर्णन भी इस काव्यकृति में प्रसगवश मिलता है। यह कृति सोरठा छन्द में लिखी गई है और इसमें कुल 76 छन्द हैं। सम्पूर्ण कृति में कवि ने वीर पूजा के भाव और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति दी है। अकबर के कठोर सामन्ती काल में राष्ट्रीयता का यह उद्घोष कवि की आत्म-निर्भयता, स्वतंत्रता-प्रेम और भारतीय संस्कृति में अटूट आस्था का परिचय देता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में यह कृति अपना अद्वितीय स्थान रखती है।

किरतार बावनी—

यह रचना कब लिखी गई, इसका अभी तक पता नहीं लग सका है। इसका विषय सृष्टिकर्ता (किरतार) की लीला का वर्णन करना है। ईश्वर की विराट् शक्तियों के सम्मुख समस्त प्राणी जगत् कितना विवश और असमर्थ है! मनुष्य अपने पेट की पूर्ति के लिये अनेक कर्तव्य-अकर्तव्य करता है। धर्म-कर्म और सामाजिक आचार के मिथ्यात्व को भी कवि ने इस कृति में चित्रित किया है। कवि ने इस कृति में प्रयुक्त छन्द को कवित्त कहा है किन्तु है यह वास्तव में छप्पय छन्द। 'बावनी' शीर्षक के अनुसार इसमें कुल 52 छन्द होने चाहियें किन्तु अभी केवल 51 छन्द ही प्रकाश में आये हैं।[1] भक्ति और नीति की यह बहुत ही प्रांजल रचना है।

दूहा सोलंकी वीरमदेजी रा—

इस रचना के सृजन-काल का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। यह भी सर काव्य ही है और इसमें कवि ने वीरमदे सोलंकी की प्रशंसा में 60 छन्दों की रचना की है। वीररस की अत्यन्त उत्कृष्ट निष्पत्ति इस कृति में हुई है।

झूलणा राव श्री अमरसिंघजी गजसिंघोत रा—

यह डिंगल के प्रसिद्ध छन्द 'झूलणा' में रचित सर काव्य की कृति है। इसमें कवि ने 34 छन्दों में राव अमरसिंघ गजसिंघोत की वीरता और भारतीय संस्कृति-प्रेम की प्रशंसा की है।

---

1 मरुवाणी (1959 जुलाई) श्री अगरचंद नाहटा का लेख—कवि दुरसाजी [illegible] की किरतार बावनी।

मूल्यांकन—

कवि दुरसाजी की अद्यावधि उपलब्ध कृतियों का परिचय देने के पश्चात् उनके कृतित्व के मूल्यांकन के लिये काव्य के वर्ण्य-विषय, रूप और भाषा पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

दुरसाजी का काव्य-विषय प्रमुख रूप से अपने आश्रयदाता राजाओं और मातृभूमि की स्वतंत्रता तथा भारतीय संस्कृति की रक्षार्थ मुगल शक्तियों से जूझने वाले अन्य अनेक वीरों का कीर्ति-गान है। दुरसाजी हिन्दू-धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति के अनन्य उपासक थे। अपनी कविता में उन्होंने तत्कालीन हिन्दू समाज की विपन्नावस्था और अकबर की कूटनीति का बड़ा ही सजीव, वीरदर्पपूर्ण और चुभता हुआ वर्णन किया है।[1] इनकी कृतियों में माता पृथ्वी के प्रति, हिन्दू संस्कृति के प्रति और मनुष्य के सम्मान के प्रति आदर का भाव प्रकट हुआ है। माता पृथ्वी के सम्मान, हिन्दू संस्कृति के पतन और मनुष्य के अनादर की जहां भी इन्हें प्रतीति हुई है वहां इन्होंने हृदय की सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ उसकी भर्त्सना की है। अपने आश्रयदाताओं और अन्य वीरों में इन्होंने उन मानवीय गुणों को परिलक्षित किया है जो किसी पुरुष को मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। वे पुण्य भावों के प्रतीक हैं—उनके कीर्ति-गान में मानव जीवन के सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का कीर्ति-गान हुआ है।

कवि की पुण्य कृति 'विरुद छिहत्तरी' में राणा प्रताप और अकबर ये दोनों ही ऐतिहासिक पुरुष हैं किन्तु प्रतीकार्थ में प्रताप का यशोगान उन समस्त नर-पुंगवों का यशोगान है जो जीवनपर्यन्त मानवता के उद्धार के लिए आसुरी शक्तियों से जूझते रहते हैं और अकबर की भर्त्सना उन समस्त खूनी ताकतों की भर्त्सना है जो मानव की पावन स्वाधीनता को छीन कर उसे पशुवत् जीवन व्यतीत करने के लिये विवश करती हैं। हिंसात्मक शक्तियों के बल पर किसी जाति के धर्म और संस्कृति को लूटना प्रत्येक युग में निन्दनीय रहा है। दुरसाजी की आत्मा हिन्दुओं के पतन और अकबर की कपट नीति और आततायिता से चीत्कार कर उठी। 'विरुद छिहत्तरी' कवि के मनो-ताप का ओजस्वी प्रकाशन है। इसमें कहीं पर भी करुणा का स्वर नहीं है। प्रताप की प्रशस्ति के माध्यम से भारत की सम्पूर्ण स्वाधीनता-प्रिय मानवता के ललकार का प्रखर स्वर इस कृति में अभिव्यक्त हुआ है। निम्नोक्त सोरठे कवि की भावभूमि को समझने में सहायक होंगे—

---

1 डिंगल में वीर रस—पृ. 51

अलख पुरस आदेस, देस बचाय दयानिधे ।
वरणन करूं विसेस, सुहृद नरेस प्रतापसी ।।
थिर नृप हिन्दुसथान, लातरगा मग लोभ लग ।
माता भूमी मान, पूजैं राण प्रतापसी ।।
आभा जगत उदार, भारत वरस भवान भुज ।
आतम सम आधार, प्रथवी राण प्रतापसी ।।
लोपैं हीन्दू लाज, सगपण रोपैं तुरक सूं ।
आरज कुळ री आज, पूंजी राण प्रतापसी ।।
अकबर समंद अथार, तिहँ डूबा हीन्दू तुरक ।
मेवाडो तिण माह, पोयण फूल प्रतापसी ।।
अकबर घोर अंधार, ऊँघाणा हीन्दू अवर ।
जागै जग दातार, पोहरै राण प्रतापसी ।।
गढ ऊँचो गिरनार, नीचो आबू ही नहीं ।
अकबर अघ अवतार, पुन अवतार प्रतापसी ।।
अकबर करै अफंड, मद प्रचंड मारग मगै ।
आरज भाण अखंड, प्रभुता राण प्रतापसी ।।
सुख हित स्याळ समाज, हीन्दू अकबर वस हुवा ।
रोसीलो मृगराज, पजै न राण प्रतापसी ।।
रोकै अकबर राह, लै हींन्दू कूकर लखां ।
बीभरतो वाराह, पाड़ै घणा प्रतापसी ।।
अकबर गरब न आण, हीन्दू सह चाकर हुवा ।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़ै ।।
अकबर मैंगळ अच्छ, मांझल दळ घूमैं मसत ।
पंचानन पळ भच्छ, पटकै छड़ा प्रतापसी ।।
लंघण कर लंकाळ, सादूळो भूखो मुवैं ।
कुळवट छोड कृपाल, पैंड न देत प्रतापसी ।।
चितवें चित चीतोड़, चिता जळाई सोचवर ।
मेवाड़ो जग मोड़, पावन पुरख प्रतापसी ।।
मन री मन रैं माहि, अकबर रैं रहगी हकस ।
नरवर करिये नाहिं, पूरी राण प्रतापसी ।।
जिण रो जस जग माहि, जिणरो जग धिन जीवणो ।
नेड़ो अपजस नाहिं, धणधर धिनो प्रतापसी ।।
सफळ जनम सुदतार, सफळ जनम जग [illegible]

सफळ जोग जगसार, पुरत्रय प्रभा प्रतापसी ॥
करै कुसामद कूर, करै कुसामद कूकरा ।
दुरस कुसामद दूर, पुरस ग्रमोल प्रतापसी ॥
सेलां ग्रणी सिनान, धारा तीरथ मे धसै ।
देण धरम रण दान, पुरट सरीर प्रतापसी ॥

अन्तिम दो सोरठो मे कवि का समग्र व्यक्तित्व स्पष्ट हो गया है। खुशामद या तो मूर्ख करते हैं या कुत्तों के समान कायर व्यक्ति करते हैं। दुरसा मिथ्या प्रशंसा से सदैव दूर रहता है। महाराणा प्रताप इस ससार में ग्रमूल्य पुरुष हैं और दुरसा ने ऐसे ही पुण्य-पुरुष का गुणगान किया है। महाराणा प्रताप धारा-तीर्थ (तलवार की धार) में प्रवेश कर भालो के ग्रग्र भाग रूपी जल से स्नान करते हैं। वे युद्ध रूपी धर्मक्षेत्र में ग्रपने शरीर रूपी स्वर्ण का दान देते हैं। दुरसा ऐसे ही धर्मात्मा का यशोगान करते है। ग्रपनी 'झूलणा राजा मानसिह रा' कृति मे भी दुरसाजी ने ग्रामेर के राजा मानसिंह के प्रताप, पौरुष ग्रौर वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा की है। राजा मानसिंह यों राजपूती इतिहास मे बड़े बदनाम रहे है। ग्रकबर की ग्रधीनता स्वीकार कर उन्होंने राजपूती गौरव को कलंकित किया है। किन्तु क्योंकि दुरसाजी मानसिंह के समकालीन थे, उन्होंने इनके व्यक्तित्व को निकट से देखा है। उनके वीरत्व का ग्रभिनन्दन किया है तथा इनके गुणों के प्रति ग्रपनी श्रद्धा व्यक्त की है। इस कृति के दो अंश सहृदयों के ग्रवलोकनार्थ नीचे प्रस्तुत कर रहे है—

मांन वडा पखता हरा देवे विरदाळा।[1]
तूं ग्रावेर उजाळणा उजेण उजाळा ॥
लख तुरगम बधियै वाळी वेगाळा।
द्वारि गह मह हिन्दुग्रा भाभा भुलाळा ॥
उर्थे सूरज ग्राभ ग्रहे उतरे कड़ाळा।
माहण समंद म नर वे समद विसाळा ॥
गाज गजेन्द्रे जाणिया दूजा वरसाळा।
गिढ गिरधर धज गया छां छत्राळा ॥
सीस तुरको हीन्दुग्रा मिग्रसे त्रबाळा।
जेतो ग्रकबर खटियां तेती रखवाळा ॥

---

1 राजस्थानी शोध पत्रिका (1960 सितम्बर) श्री सौभाग्यसिंह शेखावत

छतीसे ठाकुर राइयां नूं मान वडाळा ।
मान वडा तुम्झ सुं, गिरधरण गुमाळा ॥ 1
राकस वम निकदरणा एकोपति सीता ।
भार अधार विखंडणा एको आदीता ॥
एको सेस सहारणा धरमेर सहीता ।
एको गोकळ कन्हा गिर नख ग्रहता ॥
एको चंदरण सेवियै वन चंदरण किता ।
एको सिमहर नव खडे अम्रि श्रविता ॥
एको ग्रंन मुग्रं नियां रति राड़ पुरिता ।
एको जळिहर ऊमडे नव खंड भरता ॥
एको रिख अगथिया जिरण सायर पिता ।
हसती लख विडारणा एक मोह वहता ॥
एकण मान महाबळी समारोइ जीता ॥ 2

इस काव्य-कृति में दुरसाजी के हृदय की उदारता प्रकट होती है। गुण को गुण कहने मे उन्हें कोई संकोच नही है। अकबर की अधीनता राजा मान के चरित्र की बहुत बड़ी कमजोरी रही है किन्तु उनमें एक वीर पुरुष के अन्य सभी गुण विद्यमान थे। कवि उनको कैसे विस्मृत कर दे?

कवि की अन्य प्रबन्ध कृतियो और स्फुट काव्य का वर्ण्य-विषय भी वीरो का प्रशस्तिगान ही रहा है। महाराणा प्रताप और मानसिंह के अतिरिक्त राव चन्द्रसेन, नागौर के राव अमरसिंह गजसिंघोत, वीरमदेव सोलंकी, राव सुरताण आदि के पराक्रम, दानशीलता और उत्सर्ग की इन्होने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रशस्ति-गान और राष्ट्रीय धारा के स्वर से पृथक् कवि की भावभूमि का एक पक्ष और है जो यो तो उपरोक्त कृतियो मे भी यत्र-तत्र प्रकट हुआ है किन्तु कवि की एक अन्य प्रसिद्ध कृति 'किरतार बावनी' का तो मूल विषय ही वह है। यह पक्ष है ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति का, मानव जीवन में करुणा, नीति और सदाचार का। इसमे प्रबन्धत्व नही है। सभी छन्द अपने विषय की स्वतंत्र अभिव्यक्ति करते हैं। जीवन-सघर्ष का इस कृति मे अत्यन्त सजीव और करुणापूर्ण चित्रण हुआ है। पेट की पूर्ति के लिये मनुष्य को अनेक नैतिक-अनैतिक कार्य करने पड़ते हैं। जीवन के अन्तर्विरोध को कवि ने अत्यन्त गहराई से समझा है। जीवन और मृत्यु, मिलन और वियोग, आशा और निराशा, भाव और अभाव, आँसू और मुस्कान के विवर्तो में ग्रसित मानव-जीवन एक विराट् शक्ति से नियंत्रित है। सब कुछ उसी विराट्

कर्ता' की इच्छा से होता है। इसी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति दुरसाजी ने अपनी इस कृति में की है। हमारे सामाजिक चरित्र के अन्तर्विरोधों को भी अत्यन्त मार्मिक रूप में कवि ने चित्रित किया है। इस कृति के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं।—

रचना प्रवहण रचे, बहुत नर मांहे बेसे ।[1]
अथग नीर आगमे, पूरि जोखम में पेसे ॥
किरणहो का वाय कुवाय, कोरि काजळ रो कंपे ।
उयन को अग्रंधार, जीव दुख किण सु जंपे ॥
जल मधि नाव चूडे जरे, कोइक विरलो ऊगरे ।
करतार पेट दूभरि कीया, सो काम एह मानव करे ॥
रितु बरसाळा राति, घोर अन्धार होय घण ।
वीज चमक्के वळे, मेह्रझड़ मचि सरावण ॥
चोर अरध निस चाल, बार अनबत रे बेसे ।
भेदे पथर भीत, पन्नग ज्युं मांहे पेसे ॥
शाम रो धणी तिण ने ग्रहे, ध्रह साजे सूली धरे ।
करतार पेट दूभरि कीया, सो काम एक मानव करे ॥
एक टूक कारणे, भमे घर-घर भिखारी ।
दीन वचन दाखवे, भणे मुहिल बर भारी ॥
अणदेसे अदत्त, अजे दे उत्तर आडा ।
तो ही रग रग तेथि, मागि अन्न मेले माडो ॥
पिंड रो मांन मुके, घर सुधी भिक्षा धरे ।
करतार पेट दूभरि कीया, सो काम एक मानव करे ॥
नवली सुन्दरि नारि, महा अति रूप मनोहर ।
निरखे सांमा नेत्र, नवा लयलीण होय नर ॥
सोळ सजे सिणगार, सरस तिण देही सोहे ।
मांणस केही मात्र, देखि सुर नर मन मोहे ॥
एहवी त्रिया मेले अलग, व्यापारी विरहो वदे ।
करतार पेट दूभरि कीया, सो काम एक मानव करे ॥

इस प्रकार दुरसाजी के काव्य-विषय ने जीवन के व्यापक विस्तार को अपने में समेट रखा है। व्यक्ति, समाज, संस्कृति और प्रकृति सभी ने दुरसाजी के काव्य में अभिव्यक्ति पाई है। साहित्य की मर्यादाओं का बड़ी

निष्ठा से उसमें अनुपालन हुआ है। दुरसाजी सामन्ती काल में हुये किन्तु आश्चर्य है कि इनकी वाणी को इस काल की दुष्प्रवृत्तियां दूषित नहीं कर सकीं। रति और शृंगार का कहीं वर्णन नहीं, वीरों की प्रशंसा में कहीं मिथ्यात्व नहीं, अतिशयोक्ति की कहीं विद्रूपता नहीं।

जिस प्रकार दुरसाजी का वर्ण्य-विषय प्रांजल, पुष्ट और जीवनदायी है उसी प्रकार उनका काव्यरूप भी अत्यन्त हृदयहारी और परिष्कृत है। डिंगल के लोक-प्रचलित छन्दों में इन्होंने काव्य-रचना की। दोहा, सोरठा, छप्पय, झूलणा और डिंगल गीत इनके प्रिय छन्द रहे हैं। वीररस इनके काव्य का प्रधान रस है अतएव उपरोक्त छन्द बड़े अनुकूल रहे हैं। अपने छोटे आकार में ये शब्द हृदय को सीधे बेधने की शक्ति रखते हैं। 'विरुद छिहत्तरी' का एक-एक सोरठा इस सत्य का साक्षी है। बिहारी की सतसई के दोहों के लिये कही गई उक्ति—'सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर। देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर।' दुरसाजी के सोरठा और दोहों के लिये भी उतनी ही उपयुक्त है। इनके दोहों और सोरठों की भाषा और विषय का संगठन इतनी चतुराई से किया गया है कि इसे दुरसा जैसे डिंगल के काव्यशिल्पी ही कर सकते थे। इन दोहों और सोरठों में 'वैण सगाई' अलंकार का निर्वाह भी अत्यन्त कुशलता के साथ हुआ है। 'किरतार बावनी' में प्रयुक्त छप्पय छन्द में भी यत्र-तत्र कवि ने बड़ी ही सफलता से वैण सगाई का निर्वाह किया है। वैण सगाई के अतिरिक्त कुछ अन्य अलंकारों का प्रयोग भी दुरसाजी के काव्य में यत्र-तत्र मिलता है किन्तु डिंगल काव्य की परम्परा के अनुसार यह सारे प्रयोग स्वाभाविक हैं। कहीं पर भी कवि ने अलंकारों के प्रयत्नसाध्य प्रयोग नहीं किये। डा. जगदीश श्रीवास्तव का यह मत 'डिंगल के कवि साधारणतया काव्य के स्वाभाविक स्वरूप को विकसित करने में विश्वास करते थे, काव्य को बाह्य उपकरणों द्वारा अलंकृत कर चमत्कृत करना कदाचित् वे अनावश्यक समझते थे।'[1] ये शब्द दुरसाजी के काव्य के अलंकार पक्ष पर पूर्ण रूप से सही है।

दुरसाजी के समस्त काव्य की भाषा विशुद्ध डिंगल है। वह शास्त्रीय न होकर अत्यन्त सरल, प्रवाहपूर्ण और जन-मानस के निकट है। पांडित्यपूर्ण भाषा लिखने का मोह कहीं भी प्रतीत नहीं होता। स्वाभाविक भावोद्वेलन से निसृत प्रकृत वाणी में कवि ने अपने काव्य की रचना की है। कई स्थलों पर तो ऐसा लगता है जैसे इनका काव्य लोक-साहित्य ही हो। 'विरुद छिहत्तरी'

---

1 डिंगल साहित्य—डा. जगदीश श्रीवास्तव, पृ. 217

के सोरठों व 'किरतार बावनी' के छप्पयो मे वाणी की यह प्राकृतिक सुन्दरता कई स्थलों पर देखी जा सकती है। मैं समझता हूँ कवि की अत्यधिक लोकप्रियता का एक कारण यह भी रहा है। जन-मानस को स्पर्श कर उसे प्रभावित करने की शक्ति जिस कवीश्वर की वाणी मे होगी वह क्यो नही लोकप्रिय होगा ?

दुरसा आढ़ा राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल के वास्तव मे मूर्धन्य कवि हैं। हमारे साहित्य को उनकी अपूर्व देन है। चाहे उन्होने परिमाणात्मक दृष्टि से बहुत ही कम साहित्य लिखा किन्तु उनके काव्य की उत्कृष्टता ही उन्हें राजस्थानी साहित्य में अमर करने के लिए पर्याप्त है। यह सम्भवतः मध्यकालीन भारतीय वाङ्मय के पहले कवि हैं जिन्होने विदेशी शासन का निर्भीकता से प्रबल विरोध कर भारत की राजनैतिक एकता का उद्घोष किया, विदेशी सत्ता के हाथो मिटने वाली भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म की रक्षार्थ राष्ट्रवासियो का आह्वान किया। उनकी वाणी मे लोक-भाषा की स्वाभाविकता और सारल्य के साथ लोकमानस को छूने का बल है। वे हमारे राष्ट्र-कवि हैं।

रससिद्ध गीतकार महाराजा नृपमान

एक राजस्थानी साहित्यिक गीत है—

चपाबाड़ी चालो नैं, निलण चंगा मारड़ा जी।
आई-आई सावण तीज
बीजळियां रा छै डूंगरा जी॥ 1
बीजळिया रा छै सिळाव
सैंचनण अंबर हुवै रह्यो जी॥ 2
झीणी पड़ै छै बूंद
भीजै छै सालूड़ा तीजण्यां रा जी॥ 3
झूलै राज कंवार
कै झूला दै लाडली जी॥ 4
हाथ सुराही नाजुली रै
पिया रै प्यालै दारूडी जी॥ 5
बरसै छै बरसात
कै रातूं मैला रंग रमैं जी॥ 6

राग कालिंगडा, ताल होरी में निबद्ध यह रसभीना सुरंगा गीत राजस्थान के प्रसिद्ध साहित्यकार महाराजा मानसिंह रचित है। राजस्थान की साहित्य-परम्परा में महाराजा मानसिंह सुमेरु पर्वत की भांति प्रतिष्ठित है। ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। इनकी प्रतिभा से राजस्थानी भाषा और साहित्य की सभी विधायें समृद्ध हुई। इन्होंने राजस्थानी भाषा को अपनी लेखनी से अभिनव गरिमा और कान्ति प्रदान की।

वि. सं. 1839 में जोधपुर के राज परिवार में मानसिंह ने जन्म लिया। कठिन राजनैतिक संघर्ष के पश्चात् ये राजसिंहासन पर आसीन हुये। लम्बे चालीस वर्षों की अवधि का इनका शासन दुर्धर्ष संघर्ष, युद्ध, जय-पराजय और मान-अपमान का काल था। पर ये अटूट आत्मबल और मानसिक धैर्य के साथ राज्य-संचालन करते रहे। और यह इनके व्यक्तित्व की एकान्त विशेषता कही जायेगी कि इस सरस्वती पुत्र की लेखनी आन्तरिक, पारिवारिक और बाह्य संघर्ष के घनघोर झंझावातों क्षणों में एक घड़ी को भी नहीं रुकी। यह इसी का परिणाम है कि भक्ति, आध्यात्म, नाथदर्शन, इतिहास, साहित्य, प्रकृति चित्रण, शृंगार व अनेक अन्य विषयों पर साठ से भी अधिक ग्रन्थों की रचना वे कर पाये। इतना ही नहीं, इन्होंने समकालीन

विद्वानों, कवियों और कलाकारों को सम्मान व प्रेरणा देकर सहस्रों ग्रन्थों की रचना भी करवाई। इतिहास साक्षी है कि मानसिंह के समान सृजनधर्मी, गुणग्राहक राजा राजस्थान के इतिहास में यदा-कदा ही हुये है। यदि उस काल की राजनीति और ऐतिहासिक द्वन्द्व को भुला दें तो मानसिंह का यह काल राजस्थानी संस्कृति और साहित्य की नव सर्जना का काल रहा है।

मानसिंहजी के साहित्यिक जीवन के यों तो कई पक्ष हैं। किन्तु एक पक्ष बड़ा सबल है और वह है उनका गीतकार व्यक्तित्व। उन्होंने राजस्थानी भाषा में आभिजात्य और लोकगीत दोनों की रचना की। वे सच्चे अर्थों में वागेयकार थे। मानसिंह ने संगीत की नाना राग-रागनियों में सहस्रों साहित्यिक गीतों की रचना की। मानसिंह रचित सम्पूर्ण गीतसाहित्य आज उपलब्ध नहीं है। उनके कुछ गीतसंग्रह जोधपुर नरेश के मेहरानगढ़ स्थित पुस्तक प्रकाश में मौजूद हैं। राग रत्नाकर, मानसिंहजी साहबांरी बणावट रा ख्याल-टप्पा, शृंगार पद, होरी हिलोर, बहार वाटिका इनमें मुख्य है। इन पदों के प्रमुख विषय हैं—ज्ञान, भक्ति, नाथ दर्शन, लौकिक प्रेम और शृंगार (संयोग और वियोग दोनों), ऋतु वर्णन इत्यादि। यों तो यह सम्पूर्ण पद साहित्य अपनी साहित्यिक गरिमा और गीत-माधुर्य से मण्डित है किन्तु लौकिक प्रेम-शृंगार-विरह के गीत अधिक मनमोहक व हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। एक पद द्रष्टव्य है—

पायलड़ी झणकै छी मांझल रात
नींद को बखत सुणी छी म्हें तो
सेजड़ली पर घात ॥ 1
सांवलड़ा री सौगन म्हें देख्यां
सखियां पूछै मिल कर बसात
कह्यो नै रसराज राधिके
कांई-कांई हुवै छै वात ॥ 2

[मध्य रात्रि में प्रियतम कृष्ण की रंग शैय्या पर राधिका की पायल झंकृत हो रही है। नींद का समय हो गया है। प्रिया और प्रियतम में घात-प्रतिघात चल रहा है। सखियां दूसरे दिन सूर्योदय बेला में राधिकाजी से पूछ रही हैं कि रात प्रेम की क्या-क्या बातें हुई।]

यह नृपमान के गीतकाव्य का एक उदाहरण है। लोक-संगीत का मिठास तो इसमें है ही, प्रेम-संयोग की सहज सरसता का चित्रण इसमें अद्वितीय हुआ है।

आत्माभिव्यंजन गीत का केन्द्र बिन्दु होता है। छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावना, आत्मनिवेदन बहुत ही स्वाभाविक और मनभावन लगते हैं। गेय

पदों में शब्द-साधना के साथ स्वर-साधना भी आवश्यक होती है। मानसिंहजी के गेय पद गीतकाव्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं। गीतकाव्य का विश्लेषण करते हुए पं. रामदहिन मिश्र ने एक जगह लिखा है—"जिस गीतकविता में शब्दों की सुन्दर ध्वनि, सुकुमार संयोजन, सरल-सुन्दर मीठे शब्द, कोमल कल्पना, संगीतात्मक शब्द, अनुभूति की विभूति, भावनानुकूल भाषा और कलापूर्ण अभिव्यक्ति होती है—ऐसी गीतकविता प्रशंसनीय होती है।" मानसिंहजी के सम्पूर्ण गीतकाव्य पर यदि हम उपरोक्त दृष्टि से विचार करें तो हमें निराशा नहीं होती। उनके पद इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। इस तथ्य के प्रमाण में रसीलेराज मानसिंह का एक और पद प्रस्तुत है—

अलबेलिया तो बम ह्वै रहो
छदागारी थारा लोयण लागणां
अजी बाई आवै छै थानैं खटपट घणां
और यो मतवाळो सरदार जी
अजी थारै पोहर रा कहै छै जणां-जणा
ईंरो कामणगारो छै सुभाव जी ॥ 2
अजी अै तो तिरछी निजर चलावणां
बरछी सूं तीखा घाव जी ॥ 3
अजी अगमीन कवळ सू वी मोहणा
खंजन सूं चपल खतंग जी ॥ 4
चिरंजीव रहो ए बनी-बना
रसराज सहेल्या री आसीस जी ॥ 5

[इस नायिका का स्वभाव कामणगारा है। यह नायिका छन्दागारी है। इसकी वक्रदृष्टि बर्छी से भी गहरा घाव करती है। सहेलियां आशीष दे रही हैं कि ये बना-बनी चिरंजीव रहें।]

मानसिंह की गीत-भंगिमा और उनकी रसानुभूति को स्पष्ट करने के लिये कुछ और गीत द्रष्टव्य हैं—

पाणी भर रही सरवर पाळ
किण छैला री छै या कामणी
सीस सुरंगी चूनड़ी चमकै
मोतीड़ा री माळा दांवणी
कवल पत्री मुख मिसी मुहाई
छूटी जुलफ मुळजावणी
रसराज किण वादन गऊ नगमी
चमक झलकती दावणी ॥ 2

माझ राग में निवद्ध एक विरहिन की पीड़ा देखिये—

विरहा धूम मचाई तन मांय
काई म्हे कियो छै थारो बैर हो
असन वसन निद्रा हूं भूली,
भूली सब सुख री सैर ॥ 1
गांव नगर जंगळ सब हेरया
हेरी नद नदियां री नैर
कद मिळसी रसराज सांवल वै
मन लग रह्या उवां री लैर ॥ 2

विरह इस शरीर में उत्पात कर रहा है। मैंने तुम्हारे साथ कौनसा शत्रुता का व्यवहार किया था। भोजन, वस्त्र, नींद मैं तो सब कुछ भूल गई हूं। सुख से घूमना भी मुझे अब तो याद नहीं रहा। गांव, शहर, वन सब ढूंढ लिये। नदी, नदी की लहर पर भी तुम्हें ढूंढ लिया। मुझे मेरे श्यामल कब मिलेंगे।

एक और संयोग पद में प्रियतमा अपने प्रिय से सावण की तीज के दिन चम्पावन में चलकर खेलने के लिये कह रही हैं। यह पद राग कालिंगड़ा और ताल होरी में है।

चम्पावाड़ी चालो नै, खेलण चंगा मारुड़ा जी
आई-आई सावण तीज
मुरैला बोल्यो गैरा डूंगरां जी ॥ 1 ॥
बीजळियां रा छै सिळाव
सैचनण अम्बर हुवै रह्यो जी ॥ 2 ॥
झीणी पड़ै छै बून्द
भीजै छै सालूडा तीजण्यां रा जी ॥ 3 ॥
झूलै राजकंवार
कै झूला दै लाडली जी ॥ 4 ॥
हाथ सुराही लाडली रै,
पिया रै प्यालै दारूड़ी जी ॥ 5 ॥
वरसै छै वरसात
कै रातूं मैं'लां रंग रमै जी ॥ 6 ॥

हे सुन्दर प्रियतम ! चम्पावन में खेलने के लिये चलो। सावण की तीज आ गई, गहरे पर्वतों में मोर बोलने लगे है, बिजलियां चमकने लगी हैं—आकाश विद्युत् ज्योति से चमक उठा है, रिमझिम बून्दें गिर रही हैं, तीजणियो

के आंचल भीग रहे हैं। राजकंवर प्रियतम झूला झूल रहे हैं और उनकी अनुरागमयी पत्नियां उन्हें झूला दे रही हैं। प्रियतमा के हाथ में सुराही है और प्रियतम के हाथ मे शराब का प्याला है। वर्षा हो रही है और रात-रात भर प्रेमी और प्रेमिकायें अपने रंगमहलों में प्रणय-लीलायें कर रहे हैं।

राजस्थानी के तीज के पर्व के संदर्भ मे प्रियतमा की अपने प्रियतम से चम्पा-वन मे चलकर प्रणय के खेल खेलने की यह अनुनय-विनय करुण, साथ ही कितनी रसमय है !

रागमयी तीज से सम्बन्धित एक संयोग-पद और देखिये—यह पद राग देवगन्धार और चौताल ताल मे निबद्ध है—

वरसँ बादली म्हारा राज, चमक रही छै बीज
झम-झमती घण महल चढ़ँ छै
रम-झम पड़ती बूंद ॥ 1
मिली अन्धेरी रैण सुहेली,
मोरा गावँ मल्हार।
राजगहैली रै संग मांणो,
सरस तीज री रात ॥ 2

झमझम करती हुई प्रियतमा रंगमहल में चढ रही है। रिमझिम बूंदें गिर रही हैं। सुन्दर कृष्ण पक्ष की रात मे मोर मल्हार राग गा रहे है। तीज की यह सरस रात्रि आज तो राजकंवरि के साथ रंगमहल मे बिताओ।

पति परकीया के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट है। पत्नी इस दुखद विषय की चर्चा अपनी स्नेहमयी माँ से करती है। गौड़ मल्हार राग मे इस भाव का एक पद देखिये—

नवल बिहारी जी री देखी ए मा प्रीत।
आपा सूं और दूसरां और हो
ए पढ़्या छै अनोखी नीत ॥ 2
ल्यातां प्रीत बणावँ बतिया
पीछै दिखावँ नादानी अनीत
रसराज अब तो पिछाणियें एही
म्हो नायक की रीत ॥ 2

[हे माँ ! नवल बिहारी प्रियतम की प्रीत को मैंने देख लिया। हमारे साथ उनका व्यवहार कुछ और है और दूसरो के साथ कुछ और। विचित्र नीति इन्होंने पढ़ी है। प्रेम करते समय तो ये अनेक प्रकार की बातें बनाते हैं।

इसके पश्चात् अन्यायपूर्ण भोलापन दिखाते है। अब तो इनको हमने पहचान लिया। यह तो नायक की राजनीति में दक्ष हैं।]

उपरोक्त पद में राजस्थान की पनिहारिन का वर्णन हुआ है। यह कितना स्वाभाविक व मोहक है। इसे वही अनुभव कर सकते है जिन्होने राजस्थान की रंगभरी संस्कृति को देखा-भोगा है। महाराजा मानसिह को अपने लोक-परिवेश का भी ज्ञान था। उनका प्रतीक और बिम्ब-विधान लोकजीवन मे सम्पृक्त होता था। मानसिह सही अर्थो मे एक रससिद्ध लोकगीतकार थे। मानसिह रचित होलियां, कलाळिया और होरियां आज भी मारवाड़ के गाव-गाव मे गाई जाती है। उनके प्रेम और शृंगारगीत भी लोकसमाज में उतने ही लोकप्रिय है। मानसिह ने अपनी सफल और रससिक्त पद रचनाओ से राजस्थानी भाषा और साहित्य को एक नई गरिमा और श्री प्रदान की है।